महायान

भदन्त शान्तिभिक्षु
उपाध्याय विश्वभारती-चीनभवन



विश्वभारती ग्रन्थालय
२ बङ्किमचाटुज्जे स्ट्रीट, कलकत्ता

प्रकाशक—श्रीपुलिनविहारी सेन
विश्वभारती, ६।३ द्वारकानाथ ठाकुर लेन

मूल्य ३)

मुद्राकर—प्रभातकुमार मुखोपाध्याय,
शान्तिनिकेतन प्रेस, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

सूचोपत्र

मम दीक्षां विधायैव निर्वृताय महात्मने ।
धर्मानन्दाय गुरवे श्रद्धयाऽञ्जलिरर्प्यते ॥

प्रस्तावना

धर्म और समाज की जो रूपरेखा पहले पहल वेदों में मिलती है उसमे देवासुर या आर्य-अनार्य संस्कृतियों का मिश्रण है। दोनों संस्कृतियों के विश्वासों का संकर है। देवताओं और पितरों की पूजा, स्वर्ग और नरक मे विश्वास, समाज मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भेद—संक्षेप से कहे तो आर्य और शूद्र भेद—इन भेदों मे शूद्र की हीनता तथा वैश्य, क्षत्रिय, और ब्राह्मणों की उत्तरोत्तर उच्चता का समर्थन बस यही मुख्य बाते हैं जिनकी वेदों मे स्पष्ट छाया है। बाद मे यज्ञों की जटिलता तथा उनके प्रति कुछ उपेक्षा, बहुत देवताओं के स्थान पर एक देवता (= ब्रह्म) की स्थापना, ब्रह्मलोक या मोक्ष की कल्पनाए तथा आवागमन के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई। मन्त्रकर्ताओं की सबसे बाद की पीढिया और उपनिषदे इन्हीं बातों से भरी हुई हैं।

बाद में धीरे धीरे कुछ और नये विचार उत्पन्न हुए। उन नये विचार देनेवालों में बुद्ध का स्थान बहुत बड़ा है। उपनिषद् के ऋषि सच्चिदानन्द के रस में डूबे हुए थे पर बुद्ध ने इस बात मे इन्कार कर दिया, उन्हे ससार मे सत् चित् आनन्द कहीं दिखाई ही न पड़े। सभी धर्मों या भावों को उन्होने असत् (=अनित्य), अचित् (=अनात्म) और दु ख के रूप मे देखा। बुद्ध के यह विचार सचमुच बहुत ज्यादा विद्रोहात्मक थे। धर्म के बारे में ही नहीं, सामाजिक क्षेत्र में भी उन्होंने क्रान्तिकारी विचार दिए। जातिगत श्रेष्ठता का जो भाव मन्त्रकर्ताओं को पिछली पीढियों मे उत्पन्न हुआ था तथा उपनिषदों के युग में जो बहुत कुछ स्थिर हो चुका था उसे बुद्ध ने इन्कार कर दिया। बुद्ध ने साफ साफ कहा कि जाति (=जन्म) से कोई ब्राह्मण या शूद्र नहीं होता। जो विद्याचरणसम्पन्न है वही मनुष्यों में बड़ा है। इसके साथ साथ उन्होंने धर्म मे एकभाव से सबको अधिकार दिया जो कदाचित् उस युग की बहुत कुछ अनहोनी बात थी। उपनिषदों के बाद बुद्ध के समय (५६० से ४८० ई० पू०) तक तथा बाद में ब्राह्मणों ने एक नये साहित्य का निर्माण किया जो वेदों के अध्ययन में सहायता पहुचाने के लिये था। वेद का सहायक होने से मुख्य साहित्य न मानकर 'अग' कहा जाता था। यही उस युग का 'वेदांग' साहित्य है। जिसकी रचना सूत्रों में हुई थी। इन वेदागों म विशेषकर धार्मिक एव सामाजिक बातों का ब्योरा जिन ग्रन्थों मे किया गया था उन्हें संक्षेप से हम सूत्र-ग्रन्थ कहते हैं। इन धर्मसूत्रों में धार्मिक और सामाजिक अधिकारों की चर्चा है। बाद की स्मृतिया या धर्मशास्त्र इन्हींके सहारे बने। शूद्रों के प्रति इनमें बहुत अनुदार भाव हैं। शूद्र के नज़दीक वेदपाठ नहीं करना चाहिए क्योंकि शूद्र श्मशान के समान (अपवित्र) होता है (आपस्तब०)। शूद्रों के साथ देखादेखी हो जाए तभी वेदपाठ बद कर देना चाहिए। वेदों का अधिकार द्विजों को ही है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम ब्राह्मण के हैं। सन्यास को छोड़कर क्षत्रियों के तीन आश्रम हैं। वैश्य के पहले दो—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के ही षोड़श सस्कार किए जाते हैं (वैखानस धर्मसूत्र, खण्ड १, सू० २-४, १०-१२)। इस तरह शूद्र को

कहीं धर्म और समाज मे स्थान नहीं था, वह केवल दास था। सेवा करना ही उसका धर्म था। जिस साधारण अपराध मे ब्राह्मण साफ साफ बच जाता था उसी मे शूद्र को कठोर से कठोर दण्ड मिलता था। उसे इतना भी अवसर न था कि अपने अपमान का भी अनुभव कर ले और उन्हे कुछ खरी खोटी भी सुना सके जिनके समाज मे वह अपमानित जीवन बिताता था। यदि कभी वह ऐसा कर बैठता तो विचारे की जीभ ज़रूर काट ली जाती (आपस्तब)। इसी तरह के अनुदार युग में हम उन श्रमणों को देखते हैं जो सर्वथा इन बातों के विरोधी थे और जिनमे बुद्ध का स्थान महत्त्वपूर्ण था। उनकी महत्ता विशेषरूप से इसलिये भी स्वीकार करनी पड़ती है कि उन्होंने अपने समय मे लोगों को बहुत ज्यादा प्रभावित किया तथा बाद की बहुत सी पीढ़ियों तक भारत मे वह प्रभाव बना रहा। भारत के बाहर तो आज भी उसका कम प्रभाव नहीं है।

बुद्ध ने जिन धार्मिक विचारों को व्यक्त किया उनकी विशेषताओं की ओर ध्यान गए बिना नहीं रहता। बुद्ध ने अपने से पहले की जिन बातों को स्वीकार किया यदि उन्हे उन्हींके शब्दों मे कह डालना चाहे तो धम्मपद की यह गाथा बहुत है—

गब्भमेके उपपज्जन्ति निरय पापकम्मिनो।
सग्ग सुगतिनो यन्ति परिनिब्बन्ति अनासवा॥

कुछ लोग (मर मर कर फिर) गर्भ मे आते हैं। पापी नरक को जाते हैं। पुण्यात्मा स्वर्ग जाते हैं। आस्रव-रहित मुक्त हो जाते हैं।

पुनर्जन्म (या आवागमन), स्वर्ग-नरक और मुक्ति बस इतना ही उस समय के धर्म का सार था। बुद्ध इससे विमत न थे पर इन तक पहुँचने के मार्ग के विषय मे उनका विचार वैदिक ऋषियों से भी भिन्न था, उपनिषद् के ऋषियों मे भी मिलता जुलता न था और उन श्रमणों तथा ब्राह्मणों से भी अलग ही था जो बुद्ध के समय वर्तमान थे।

वैदिक ऋषियों के हिसाब से यज्ञ करने से स्वर्ग मिलता है पर बुद्ध यज्ञों के पक्षपाती बिल्कुल ही न थे। हा, उपनिषद् के ऋषियों की इस बात से सहमति थी कि मुक्ति के लिये यत्न करना चाहिए पर यह सहमति भी कुछ विशेष मूल्य नहीं रखती जब कि उनके सोचने का ढग सर्वथा उनसे विपरीत था। उपनिषदों के सच्चिदानन्द का बुद्ध के अनित्य दुःख और अनात्म से कुछ भी मेल नहीं था। उपनिषद् के ऋषि आत्मा या ब्रह्म तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन से पहुँचना चाहते थे पर बुद्ध के पास आत्मा न था और फिर भी वे श्रवण, मनन और निदिध्यासन के बहुत बड़े हामी थे—'आत्मा नहीं है' बस यही उनके हिसाब से सुनने की बात थी, मनन करने की बात थी, और ध्यान करने की बात थी।

ध्यान जैसे किया जाता था और बुद्ध के ध्यान मार्ग मे दूसरों से जो भेद था वह भी कम रोचक नहीं है। लोगों का ख्याल था कि धरती के सबसे नीचे नरक लोक, फिर उसमे ज़रा ऊपर प्रेतलोक है, तब धरती है जो तिर्यक और मनुष्यों का लोक है। धरती से ऊपर फिर छ देवताओं के लोक हैं इन सब लोकों को काम धातु कहा जाता है। इनसे ऊपर वे लोक हैं, जहा ध्यान से पहुच होती है। ध्यान लोक एक दो नहीं है नीचे से ऊपर सत्तरह हैं। इन सत्तरह मे से पहले तीन लोकों में प्रथम ध्यान से, फिर उससे ऊपर के तीन लोकों मे दूसरे ध्यान

से, बाद में उससे भी ऊपर के तीन लोकों में तीसरे ध्यान से पहुंच होती है। चौथे ध्यान की दौड़ इनसे ज़रा लम्बी है। उसको एकही सरपट में बचे हुए आठ लोकों तक पहुंचा जा सकता है। इन सत्तरह ध्यान-लोकों को जिन्हें रूप धातु कहा जाता है, पारकर उस जगह पहुंचा जाता है जिसे अरूप धातु कहा जाता है। ख़याल किया जाता था कि शरीर बन्धन से हीन प्राणी वहां खूब आज़ादी से पड़ा रहता होगा। वह अपने आप में मगन होता होगा। उसे किसी बात की सुधबुध न रहती होगी और उस लोक की उसकी विशेषताओं के कारण जहां अनेक नामों से कहा है वहां उसको 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन' कहा है।

बुद्ध इन सब ध्यानों के विपक्ष में तो न थे पर इनके बहुत पक्ष में भी न थे। शौकिया इन ध्यानों का कोई अभ्यास करे तो करे पर मुक्ति के ख़याल से इनके अभ्यास का वे कोई मूल्य नहीं समझते थे। दुःखों से मुक्ति के लिये उनका बताया रास्ता बहुत आकर्षक है। जब मनुष्य अपने दुःख के प्रति सतर्क रहकर उसके ठीक ठीक कारणों को समझ लेता है और उससे निकलना चाहते हुए दुःख दूर करने वाले मार्ग पर चलता है तभी वह दुःख से मुक्त हो पाता है। नहीं तो भटकता हुआ बार बार उसे धरती पर आना पड़ता है। यह बार बार जन्म लेना ही तो बड़ा दुःख है। संसार में मनुष्य जो काम करता है उसमें उसकी इच्छा ही कारण हुआ करती है। यदि इच्छा शक्ति न हो तब तो मनुष्य कुछ भी न करेगा। इसी तरह जन्म ग्रहण करने में इच्छा ही मूल कारण होती है। जब तक इच्छा बाक़ी रहती है तब तक जन्म होता रहता है और जब इच्छा नहीं रह जाती तब जन्म के लिये कोई अवसर नहीं रहता। इस तरह जन्म के अनेकों कारणों में इच्छा या तृष्णा ही मुख्य है। लोभ, द्वेष, मोह, कामराग, व्यापाद, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य, और अविद्या दोषों (विसुद्धिमग्ग २२.११.२०) के कारण ही मनुष्य को बार बार जन्म लेना पड़ता है। इन दोषों को दूर करने के लिये ठीक ठीक मार्ग पर चलना चाहिए। उस मार्ग में शील को भी स्थान है, योग की विधियों को भी स्थान है पर उतने से ही काम नहीं चलता। उस मार्ग में प्रज्ञा की बहुत बड़ी ज़रूरत है। अनित्यवाद, दुःखवाद और अनात्मवादके सहारे उस मार्ग पर चला जा सकता है। अनित्यता, दुःखमयता और अनात्मता को प्राचीन लोगों ने एक शब्द में कह डाला है। वह शब्द है—'अनुलोम ज्ञान'। (विसुद्धिमग्ग, २१-१२८-१३३) सब जगह जो अनुलोम भाव से—अनुकूल भाव से—अविरोध भाव से साथ देता है वह अनुलोम ज्ञान है। कोई भी चीज़ यदि चित्त को बांधने लगे तो यह अनुलोम ज्ञान सदा छुड़ाने में मदद देगा। यदि आपमें स्वर्ग के प्रति लालसा उत्पन्न हुई तो यह अनुलोम ज्ञान स्वर्ग की बुरी तरह खबर लेना शुरू कर देगा। उस स्वर्ग की चार दिन की चांदनी में रक्खा ही क्या है? फिर भी तो यहीं पर ही भुगतना होगा। और यदि आप स्वर्ग की बात न सोचकर दुनिया में रमने लगे तो फिर इस अनुलोम ज्ञान की दुनिया पर इतनी ज्यादा मेहरबानी होने लगेगी कि आप दुनिया से घबरा उठेंगे। यह आपके बल, रूप, नवयौवन सभी की मिट्टी पलीद करना शुरू कर देगा। यह उन दिनों की याद दिलाने लगेगा जब गालों की लाली उतर जाएगी, सारा मुँह सिलवटों से भर जाएगा, आँखों से सूझ नहीं पड़ेगा, खून में जोश नहीं रहेगा, ठीक सुन नहीं पड़ेगा और ठीक ठीक कुछ भी याद न रह सकेगा। इस तरह आप अनुलोम ज्ञान की कृपा से सोचने लगेंगे कि रूप यौवन आदि पर इतराना सचमुच ठीक नहीं है। ऋतुएं बदलकर फिर फिर आती

रहती हैं। चांद क्षीण होकर फिर फिर पूरा होता रहता है। पर यौवन यदि गया, वह उसी तरह फिर नहीं लौटता जसे नदो का पानी ऊपर की तरफ से नीचे यदि आ गया तो आ गया फिर नहीं लौटता—

ऋतुर्व्यतीत परिवर्तते पुन
क्षय प्रयात पुनरेति चन्द्रमाः।
गत गत नैव तु सनिवर्तते
जल नदीना च नृणा च यौवनम्॥ (सौन्दरनद ९-२८)

यह अनुलोम ज्ञान बौद्धों के धर्म और दर्शन मे उसी तरह व्याप्त रहता है जैसे शरीर में गर्मी। इस ज्ञान की उपयोगिता को उपमा द्वारा यों समझाया गया है। कोई आदमी नक्षत्र योग देखने के लिये चाद को देखने निकला। पर चाद बादलों मे घिरा होने से दिखाई नहीं दिया। उसी समय हवा के तीन बड़े झोके आए और पहले झोके ने बादलों के बड़े भाग को उड़ा दिया। दूसरे झोंके ने भी खूब बादल उड़ाए। इस तरह चाद पर बहुत हलका सा बादल रह गया। इतने में हवा के तीसरे झोंके ने उस बादल को भी उड़ा दिया और चाद आकाश मे चमकने लगा। फिर कोई रुकावट न रहने से उस आदमी ने चाद को देखा और नक्षत्र योग जान लिया। इस तरह निर्वाण रूपी चाद स्थूल-मध्यम-सूक्ष्म क्लेश रूपी बादलों से ढका होता है। तीनों अनुलोम ज्ञान रूपी हवा के तीन झोंके उनको उड़ा देते हैं। तब निर्वाण के लिये प्रयत्नशील व्यक्ति उसका साक्षात् कर पाता है। (विसुद्धिमग्ग २२ ८-१०)

यह अनुलोम ज्ञान मार्ग पर डाल देता है, बाद में मार्ग पर चलना और उसको पूरा करना उत्साही की बात है। जिन दस दोषों का ज़िक्र ऊपर किया गया है यदि किसीने सबको एक बार की दौड़ मे पार कर लिया तो वह अर्हत् है, मुक्त है। एक बार में यदि कोई मुक्त न हो सका तो भी घबराने की बात नहीं है। उसे अवसर है कि वह धीरे धीरे रास्ते पर चले और मुक्त हो। जो पहली सीढी में लोभ, द्वेष, और मोह को दूर कर लेता है वह स्रोतआपन्न होता है अर्थात् वह उस स्रोत में—उस प्रवाह मे अपने को फेक देता है जिसमें पड़कर उसे अबेरे या सबेरे मुक्त होना ही है। ऐसे ही व्यक्ति के लिये कहा है कि गम्भीर प्रज्ञा द्वारा सुदेशित आर्य सत्यों की जो भावना करते हैं उन्हे आठवीं बार जन्म नहीं ही लेना पड़ता भले ही वे कितना ही प्रमाद क्यों न करे—

ये अरियसच्चानि विभावयन्ति
गम्भीरपञ्ञेन सुदेसितानि।
किञ्चापि ते होन्ति भुसप्पमत्ता
न ते भव अट्ठम आदियन्ति॥

इस तरह स्रोत आपन्न अधिक से अधिक सात जन्मों के भीतर ही मुक्त हो जाते हैं। जो लोग और आगे बढ़ते हैं तथा काम राग और व्यापाद दोषों को यदि पूरी तौर पर न उखाड़ सके तो भी उन्हें बहुत कुछ दुर्बल कर देते हैं उन्हे इस ससार मे एकबार से अधिक नहीं आना पड़ता। इन्हे इसीलिये सकृदागामी (=एकबार आनेवाला) कहते हैं। और भी आगे बढते हुए जो कामराग और व्यापाद को सर्वथा निर्मूल कर देते हैं उन्हे इस ससार में आना नहीं पड़ता। इसी-

लिये उन्हें अनागामी कहते हैं। वे शुद्धावास देवताओं में उत्पन्न होते हैं और वहीं से परिनिर्वृत (=मुक्त) हो जाते हैं। जो और आगे बढ़कर रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य, तथा अविद्या दोषों को दूर कर लेते हैं वे अर्हत् होते हैं—मुक्त होते हैं (विसुद्धिमग्ग २२-११-२९)। स्रोत आपन्न, सकृदागामी, अनागामी, और अर्हत् को आर्य कहते हैं। इनका जो मार्ग है वह आर्यमार्ग कहलाता है। इनके अतिरिक्त साधारण लोगों को पृथग्जन कहा जाता है। पृथग्जनों में जो आर्यों और आर्यमार्ग के प्रति श्रद्धालु होते हैं उन्हें कल्याण-पृथग्जन कहा जाता है। इस तरह धार्मिक साधना के तारतम्य के हिसाब से बौद्धधर्म मानव समाज को तीन बड़े समूहों में विभक्त करके देखता है। सबसे प्रथम वह समूह है जो बहुत साधारण लोगों का है—जिनका मानसिक विकास नहीं हुआ है या इतना अल्प हुआ है कि उसे गिना नहीं जा सकता। यही लोग पृथक्जन हैं। जो पुण्य कर्मों की और झुक चुके हैं वे कल्याण पृथग्जन हैं। पुण्य कर्मों की ओर झुकाव होने पर भी लोग गलत रास्ते में बहक सकते हैं—हिंसा आदि अपुण्य कर्मों को भी पुण्य कर्म समझकर उनके करने में अपनेको बरबाद कर सकते हैं, इसलिये ऐसे लोगों को ठीक रास्ते पर डालना उनका काम है जो कि पहुंचे हुए हैं। जो लोग पहुंचे हुए ख्याल किए जाते हैं उनमें बुद्ध के रास्ते का अपना महत्त्व इसलिये है कि उसमें एक मात्र उन दोषों को दूर करने पर ज़ोर दिया गया है जिनके कारण संसार में सब तरह के अनर्थ होते हैं।

यहां सब दोषों की चर्चा न करके तीन दोषों—कामराग, रूपराग, और अरूपराग पर ही एक निगाह डाली जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह तीनों राग ही इस दुनिया और उस दुनिया के झगड़े की जड़ हैं। कामराग का सम्बन्ध इस मनुष्यों की दुनिया से है। यहां के सभी झगड़े इस कामराग के कारण ही हैं। कामराग के कारण ही जब लोगों ने अपने ईमान को खो दिया और अधिक से अधिक जोड़-बटोरू हो गए तो गरीबों और भुखमरों की जमात पैदा हो गई। उन बिचारों को जब और कोई साधन न मिला तो चोरी डाके तथा साथ साथ में हत्या और खून होने लगे (दीघनिकाय, पृ० २३३)। जिनके पास धन था वे भी उतने से सब्र न कर सके और ज्यादा चाहने लगे, जिनके पास छोटा राज्य था वे उसे बड़ा करने लगे तथा इस तरह राजाओं और धनियों में भी टक्करें होने लगीं। अमीर से गरीब किसी को भी शान्ति न रही। कामराग या इस दुनिया की तृष्णा ने क्या खराबी नहीं पैदा की? रूपराग और अरूपराग के कारण भी इस संसार में तरह तरह के खटराग होने लगे। तरह तरह के यज्ञ और तप एवं समाधियां आखिर उस दुनिया के लिये ही न, जिसे हम देख नहीं सकते तथा पूरा पूरा भरोसा नहीं कर सकते। बुद्ध ने उस दुनिया से इनकार तो नहीं किया पर उसके लिये किए जानेवाले तरह तरह के उपायों को बन्धन ही कहा। जहां तक समझ में आता है बात यह रही है कि बुद्धयुग को जनता को उस दूसरी दुनिया पर विश्वास था पर उसको ख्याल में रखकर भी लोग बहुत कुछ पुण्य किया करते थे! परलोक के बहाने से होते पुण्य का बंद करना कदाचित् उस समय के लोगों को गुमराह करना था। जब तक मनुष्यका मन इतना संस्कृत न हो कि निर्लिप्त भाव से पुण्य कर्म कर सके तब तक परलोक के बहाने से भी उससे पुण्य करवा लेना बहुत बुरी बात न थी और इसीलिये बुद्ध ने परलोक के विचार को ऊपर से धक्का न दिया। उस समय के लोगों को सच बोलने का आज से बहुत अधिक अभ्यास था तथा परलोक का ध्यान उन्हें रहता था इसलिये

लोग पाप करने से काफी डरते थे। पाप करके छिपाना उन्हे प्राय नहीं ही आता था। जन साधारण की इस प्रवृत्ति से बुद्ध ने बहुत लाभ उठाया। उनका ख्याल था कि यदि लोगो मे झूठ की बान पड़ गई और परलोक का ख्याल न रहा तो वे सभी पाप कर सके गे—

एक धम्म अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्ण परलोकस्स नत्थिपाप अकारिय ॥

इस तरह परलोक का समर्थन करते हुए भी बुद्ध ने उसको बहुत न तो महत्त्व दिया है और न उसके लिए किये जानेवाले खटरागों को पसन्द किया। परलोक या स्वर्ग की अपेक्षा स्रोत-आपन्न होना उनकी दृष्टि मे बहुत बड़ा था। उन्होंने कहा है—

पथव्या एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन सोतापत्तिफल वर ॥

पृथिवी के एक राज्य, स्वर्गप्राप्ति, तथा सब लोकों के आधिपत्य या स्वामित्व से स्रोत-आपत्ति का फल उत्तम होता है।

इस तरह बुद्ध ने जिस मार्ग का उपदेश दिया उसका मूल्य इन ससार के लिये बहुत ज्यादा है और इस दुनिया से ऊपर उड़ान लेनेवालों को भी निराश नहीं किया गया है। हा, इतना ज़रूर किया गया है कि बेकार के खटरागों या बाह्य कर्मकाण्ड से अलग कर उस मार्ग की ओर लगाया गया है जिसका अभ्यास करते मनुष्य उन सब दोषों को दूर करता है जिनसे ससार मे सब प्रकार के अनर्थ होते हैं। इन सब दसों दोषों को दूर करना ही बुद्ध का आर्य मार्ग है जिसे लोकोत्तर मार्ग भी कहा गया है। सचमुच बुद्ध के समय लोक मे जितने झभटो मार्ग थे उनसे यह उत्तम या ऊपर ज़रूर था। इस मार्ग का यदि सक्षेप मे और भी सार निकाले तो कह सकते है **वीतरागता** ही इसका सार है। लोक के प्रति, परलोक के प्रति, सभी के प्रति राग न होना ही मुक्ति है। बुद्ध के अनुसार मुक्ति केवल शान्ति है, सब प्रकार के क्षोभों का अभाव है। किसी ब्रह्म से मिलन या और इसी तरह की बात को बुद्ध मुक्ति नहीं मानते। अश्वघोष ने बहुत सुन्दर उदाहरण देकर इस बात को समझाया है —निर्वाण को प्राप्त हुआ दीपक जैसे न धरती में चला जाता है, न आकाश मे ही उड़ जाता है, दिशाओं और विदिशाओं मे भी नहीं जाता, सिर्फ तेल के न रहने से शान्ति पा जाता है वैसे ही निर्वाण को प्राप्त पुण्यात्मा न धरती मे समा जाता है न आकाश में उड़जाता है, दिशाओं विदिशाओं से भी नहीं जाता, सिर्फ क्लेश न रहने से शान्ति पा जाता है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिश न काचिद् विदिश न काचित् स्नेहक्षयात्केवलमेतिशान्तिम् ॥
एव कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिश न काचिद् विदिश न काचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ ३६

इस प्रकार के सरल एव आडम्बरशून्य मार्ग के शास्ता बुद्ध निश्चय ही अपने समय के बहुत बड़े स्वतन्त्र विचारक होंगे। उनका लौकिक चरित जितना भी त्रिपिटक में से चयन किया जा सकता है निश्चय ही बहुत सरल और आडम्बर-शून्य जान पड़ता है। उस समय जब धर्म-प्रचारक अपने को सर्वज्ञता तथा विविध चमत्कारों का अधिपति मानते थे बुद्ध ही एक ऐसे थे

प्रस्तावना

जिन्होंने अपनी सर्वज्ञता से इन्कार कर दिया था। कितनी ही बातें ऐसी थीं जिनका उन्होंने जवाब देना बिल्कुल बेकार समझा था। उनका जीवन एक महान् पुरुष की भांति बीता था। अपने अस्सी बरस के जीवन में अन्तिम पैंतालीस बरस पैदल घूम घूमकर उन्होंने अपने सरल और आडम्बर—शून्य मार्ग का प्रचार किया था। इतना कठिन जीवन बिताने के कारण ही शायद उस पुराने युग में जब लोगों को औसत जिन्दगी काफ़ी लम्बी थी वे अस्सी बरस में ही चल बसे! जीवन के अन्तिम दिनों में उनका शरीर बहुत दुर्बल था पर मन फिर भी दुर्बल नहीं हुआ था। अपने उस वृद्ध शरीर से जिसका रंग और चमक बुढ़ापे के कारण धूसर हो गया होगा, अंग बहुत कुछ शिथिल हो गए होंगे, खाल पर सिलवटें पड़ गई होंगी, कमर आगे की ओर झुक गई होगी, इन्द्रियों—आंखों और कानों—की शक्ति भी कम पड़ने लगी होगी; फिर भी अविचलित भाव से लाठी थामे चलते होंगे और अपनी सरल वाणी से तथा सरल मन से उपदेश देते होंगे तब ज़रूर सब को मोह लेते होंगे। उनका लौकिक जीवन निश्चय ही बड़ा आकर्षक होगा। उन्होंने पता नहीं कितने हृदयों को प्रभावित किया होगा।

कोई महापुरुष कितना ही बड़ा क्यों न हो वह सबको पूरा पूरा सन्तुष्ट नहीं कर सकता। बुद्ध के जीवन में ही कितने ही लोग उनके विरोधी थे। बाहरी लोगों की बात जाने दें पर उनकी अपनी शिष्यमण्डली में ही देवदत्त उनका विरोधी ही न था बल्कि उनको जान लेने पर भी उतारू हो गया था। उनके परिनिर्वाण के बाद जब लोग शोकाकुल थे बूढ़े सुभद्र ने फूहड़पने से कहा था कि अब मत रोओ, हमें छुट्टी मिल गई। उस महाश्रमण से तंग हो रहा करते थे। अब हम जो चाहेंगे करेंगे, कोई कहनेवाला नहीं है कि यह तुम्हें करना चाहिए, यह नहीं।

इस विरोध के कारण से इतना तो समझना ठीक ही होगा कि सब लोग जो बुद्ध-अनुयायियों में थे जीवन के उस आदर्श से सहमत न थे जिसका बुद्ध उपदेश देते थे। बात यह थी कि बुद्ध का मार्ग अत्यधिक आडम्बर-शून्य था। रहन-सहन के नियम बड़े कठोर थे, विशेषकर व्यक्तिगत सम्पत्ति न रखने का नियम होने से वे ही लोग जनता में सत्कार पा सकते थे जो स्वयं गुणवान और ज्ञानवान हों तथा जिनमें चरित्रबल हो। धर्म के नाम पर आडम्बर फैलाकर कुछ भी ठगना कदाचित् सम्भव न था, विशेषकर बुद्ध के रहते रहते तो यह सब हो ही न सकता था फलतः बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद की शताब्दी में ही कितने लोग धन दौलत बटोरने लगे थे, और एक अपनी बड़ी जमात बना ली थी। इस तरह बुद्ध के अनुयायियों में सौ बरस पूरे होते ही फूट पड़ गई। बाद की दूसरी शताब्दी में और भी कितने भेद हुए जिनका कारण सिद्धान्त गत भेदों का हो जाना था। बाद में यह भेद और भी बढ़ते गए तथा बुद्ध के निर्वाण के बाद की पांचवीं शती बीतते बीतते लोगों ने बुद्ध के मनुष्यरूप को बिल्कुल भुला डाला।

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद दूसरी से पाँचवी शती के बीतते बीतते स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् के आर्यमार्ग के अतिरिक्त दो और मार्ग निकल आए। बुद्ध ने अपने जीवन में ही जिन बहुत-सी बातों का जवाब नहीं दिया था उनमें से एक बात यह भी थी कि मरने के बाद बुद्ध का क्या होता है? साधु-महात्माओं में अलौकिकता का विश्वास कर लेना जनसाधारण की आदत है। किसी भी महापुरुष को उसके जीवन में ही

आध्यात्मिक प्रभाव से अधर्मियों को धार्मिक बनाता है। यह अन्तर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करता है।

बोधिसत्त्व का प्रणिहित के लिये जन्म लेना और ब्रह्म का अवतार लेकर इस लोक मे उत्पन्न होने का ख्याल कैसे उत्पन्न हुआ होगा ? ज़रा छानबीन कर प्राचीन धार्मिक प्रवृत्तियों को देखें तो कुछ साधारण बातों की ओर ध्यान गए बिना नहीं रहता।

वैदिक युग मे यज्ञों द्वारा जो देवपूजा होती थी उनमे देवताओं का स्वरूप मानवीय न था पर इन्द्र आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों की कहानियां इन्द्र आदि देवताओं के साथ जुड गईं तो उनका स्वरूप बहुत कुछ मानवीय हो गया तथा लोग यह ख्याल करने लगे कि देवता शायद मनुष्यो की तरह ही कहीं रहते हैं। वे मनुष्योंके पास खास खास अवसरों पर आया भी करते थे। बाद को उपनिषदों के समय मे ब्रह्म देवताओं का भी देवता बन गया। उसे भी देवताओं के बीच एक बार आते हमने एक पीछे की कहानी मे देखा है। पर मनुष्यों के बीच आने की ज़रूरत उसे कदाचित् तब तक नहीं पड़ी थी, पर बाद मे वह मनुष्यों के बीच मे कैसे उत्पन्न होने लगा ?

बुद्ध का रूप इतना सरल एव मानवीय था कि लोग उससे सन्तुष्ट न रह सके और उनके साथ लोकोत्तर बातें जोडकर बहुत कुछ उन्हे लोकोत्तर बना डाला। तथापि उनकी लौकिकता और मानवता मिट न सकी। ब्रह्म का रूप जटिल था, उसमे वैदिक युग के देवताओं-जितनी भी लौकिकता न थी फलत उसको लौकिक और हृदयगम्य बनाने के लिये बहुत कुछ मानवता के निकट लाना बहुत ज़रूरी था। इस तरह एक ओर बुद्ध को लोकोत्तर बनाने के प्रयत्न हुए और दूसरी ओर ब्रह्म को लौकिक बनाने के। ब्रह्म को देवताओं के रूप मे देखना—विष्णु आदि को ब्रह्म की सगुण मूर्ति मान लेना कदाचित् पहला प्रयत्न था जिससे ब्रह्म बहुत कुछ मनुष्य के लिये बोधगम्य हुआ पर इतना ही काफी न था। ब्रह्म को और भी निकट लाने की ज़रूरत थी और वह तब हुआ जब स्वय विष्णुरूपी सगुण ब्रह्म अथवा साक्षात् भगवान् ब्रह्म कृष्ण बनकर अधर्मियों का नाश करके धर्म की रक्षा करने लगे।

ब्रह्म ने इस तरह लौकिक होने मे कई विशेषताएँ भी साथ मे ली जो बुद्ध मे न थीं। बुद्ध साधु थे। उनका रूप परम मानवीय होते हुए भी साधु रूप था, त्याग का रूप था, वैराग्य का रूप था। उसको पूरे तौर पर हृदयङ्गम करना और अपना लेना जनसाधारण के बूते की बात न थी। साधु रूप की अपेक्षा वह रूप जिसमे बालबच्चों, स्त्रियों और धन दौलत को स्थान हो, अधिक हृदयगम हो सकता है। यह बात बौद्ध लोग अच्छी तरह से जानते थे और इसीलिये बुद्ध की बोधिसत्त्वावस्था की कहानियों मे, जो कदाचित् आरम्भ मे कोरी कहानिया थीं और बाद मे बुद्ध के जीवन के साथ जोड दी गई, इस प्रकार के मानवरूप को भी धर्म के भीतर अपनाया गया जो आज भी पत्थरों की प्रतिमाओं तथा चित्रों के बीच सजीव हो रहीं हैं। पर इनके भीतर फिर भी वैराग्य की अमिट छाप बनी रही, त्याग और उत्सर्ग ही उनका प्राण बना रहा। कदाचित् उस संग्रहप्रधान युग मे इतने त्याग-अपरिग्रह के भावों को अपना लेना सरल न था। इन सब अभावों को सगुण ब्रह्म के अवतारों ने पूरा कर दिया। जीवन का ध्येय वैराग्यप्रधान न रहकर रागप्रधान हो गया। दया और अहिसा का आदर्श रहा पर उसके साथ

दड भी आ जुड़ा। बोधिसत्त्व में अपकारियों के प्रति भी उपकार करने की भावना थी पर सगुण ब्रह्म के अवतारों में वह बात न रही। जैसा लोग उससे बरतेंगे वह भी वैसा ही बरतेगा, और दुनिया के लिये उसके पीछे चलना उसे पसन्द भी है—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥"

इतना ही नहीं, सगुण ब्रह्म ने अपना इतना विस्तार किया कि बुद्ध का व्यक्तित्व भी बहुत कुछ धुंधला हो गया और बहुत कुछ बिगड़ भी गया। जिस समय पुराणों में यह कथा जोड़ दी गई कि विष्णु ने असुरों की शक्ति को कम करने के लिये, उन्हें धार्मिक मार्ग से छुड़ाकर अधार्मिक मार्ग में लगाने के लिये बुद्ध का अवतार धारण किया, निश्चय ही उस समय यह बुद्ध के ऊपर बहुत बड़ा हमला था। जिस बुद्ध का उपदेश अधर्म मार्ग पर लगाना है उसे भला लोग भारत में क्यों याद करते? इस प्रकार की विषम अवस्था के बीच बुद्ध और बुद्ध के उपदेशों को प्रचलित रखना कम हिम्मत की बात न थी और विशेष कर उस दशा में तो किसी तरह बुद्ध धर्म को टिकाए रखना बड़ी ही व्यावहारिक बुद्धि का काम था जब प्रचार के द्वारा जनमत को उलट देना कठिन बात नहीं थी। महायान ग्रन्थों में इस तरह के खतरे का धुंधला जिक्र है। बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद की पाँच शताब्दी बीतते बीतते जिस **सद्धर्म-विप्रलोप** की चर्चा है, वह कदाचित् वही है जब बुद्ध के स्वरूप और धर्म में मिलावट की जा रही थी। इस तरह के आन्तरिक विरोधों से जर्जरित होते होते और अपनी रक्षा के लिये बाहर की सामग्री समेटते समेटते वह इतना बदला कि उसमें और हिन्दुओं में भीतरी भेद बहुत ही कम रह गए। ऊपरी भेद बहुत दिन तक बने रहे। हिन्दुओं के नेता ब्राह्मण रहे और बौद्धों के नेता साधु या भिक्षु रहे पर बाद में बाहरी आक्रमणों ने मठों को नष्ट किया, भिक्षु भारत से बाहर जो भाग सके भाग गए और उन्होंने प्रत्यन्त देशों की शरण ली। इस तरह भिक्षु-संस्था के उच्छिन्न होने से भारत में बौद्ध साहित्य की चर्चा भी बन्द हो गई। आज हम दुबारा उस धर्म और साहित्य की चर्चा करने लगे हैं। बुद्ध धर्म के उतार चढ़ाव का प्रभाव उसके साहित्य में ओतप्रोत है इसलिये उसके साहित्य पर एक दृष्टि डालने से पूर्व अब तक जिस धार्मिक उतार चढ़ाव की यहाँ चर्चा की गई उसका सार निकाल लेना बड़े काम का रहेगा—

(१) बुद्ध से पहले देव-पूजा और पितर-पूजा धर्म के अंग थे, स्वर्ग नरक की कल्पना उत्पन्न हो चुकी थी। वर्ग भेद था। देवताओं के बारे में भी मनुष्य की तरह सोचा जाता था, उनका लोक, उनके नगर, उनके बाल बच्चे सभी की कल्पना थी। देवता मनुष्यों के बीच आते थे।

(२) बाद में देवताओं का स्थान ब्रह्म की उपासना ने ले लिया पर देवताओं का अस्तित्व वैसे ही बना रहा। मनुष्यों के पास उनके आने का विश्वास भी पूर्ववत् क़ायम रहा। स्वर्ग-नरक बने रहे। वर्ग भेद रहा, तथा पुनर्जन्म और मुक्ति के विचार उत्पन्न हो गए। समाधि ने धार्मिक साधना में सबसे बड़ा स्थान लिया।

(३) बुद्ध के समय यह सब बातें थीं। बुद्ध ने धर्म के भीतर वर्ग-भेद अथवा जन्म

से छोटे बड़े होने की बात नहीं मानी। ब्रह्म को मानने से भी इनकार कर दिया। धार्मिक साधना में बहुत कुछ लौकिकता और मानवीयता ला दी। धर्म कोरा लोकोत्तरता की उड़ान न रहा प्रत्युत वह शरीर और मन को विनीत करने का मार्ग बन गया। वह इतना लौकिक बन गया कि उसमे किसी देवता या ब्रह्म की प्रधानता न होकर मनुष्य की प्रधानता हो गई। बुद्ध का रूप उस समय ठीक मनुष्यवत् ही रहा, भले ही उनमें दुर्लभ गुणों का समावेश माना जाता रहा हो। इस तरह अब दो धार्मिक प्रवाह साथ साथ बहे, एक बुद्ध-प्रमुख प्रवाह और दूसरा ब्रह्म-प्रमुख प्रवाह। आगे चलकर इन दोनों में परिवर्तन हुए—

बुद्ध	ब्रह्म
क—आरम्भिक रूप अत्यन्त लौकिक, पूरे तौर पर मानवीय ,	क—आरम्भिक रूप अत्यन्त लोकोत्तर, सर्वथा अमानवीय ,
ख—बुद्ध के रूप का विस्तार, पूर्व जन्मों के विषय में कहानियों की सृष्टि द्वारा ,	ख—ब्रह्म के सगुण रूप के अवतारों द्वारा मानवों के बीच जन्म लेने का सिद्धान्त ,
ग—बुद्धत्व प्राप्ति जीवन का परम उद्देश्य और उसे पाने के लिये पारमिताओं का अभ्यास अनेक जन्मों तक करना ,	ग—ब्रह्म तक लोग साधारणतया नहीं पहुँच सकते इसलिये लोगों के उद्धार के लिये स्वय ब्रह्म का अवतार धारण करना ,
घ—बुद्ध और बुद्धत्व प्राप्ति के लिये अभ्यास करनेवाले में क्षमा का परम स्थान, अपराधी के प्रति भी दया भाव, निरपवाद अहिंसा का भाव।	घ—अपराधियों एव अधर्मियों के प्रति अवतार की अक्षमा तथा उनका सहार।

(४) बौद्धों में आरम्भ से ही धर्म का रास्ता सबके लिये खुला था पर जिस समाज के व्यवस्थापक ब्राह्मण थे उसमें बुद्ध से बहुत पहले ही समाज हीन और उच्च भेदों में विभक्त कर दिया गया था। वह सब भेद बुद्ध के समय और बाद मे भी बना रहा पर धर्म-साधना मे बिना किसी भेद के बौद्धों ने सबको स्थान दिया। यह विशेषता बौद्ध धर्म मे अन्त तक बनी रही।

(५) इस तरह बुद्ध को चाहे जितना लोकोत्तर बनाया गया हो और ब्रह्म को चाहे जितना लौकिक बनाया गया हो पर दोनों न तो एक हो सके और न धर्म के आदर्शों में ही समता आई। बौद्धों की अपनी कितनी ही विशेषताएं साथ मे बनी रहीं जिनमे यदि और सब बातों की ओर से आखें मूद भी ले तो भी दो बातों की ओर ध्यान गए बिना नहीं रहेगा—

क—धर्म में सबकी समानाधिकारिता और जातिगत भेदों का विद्रोह।

ख—धर्म में मानव-प्रधानता तथा अतिमानवता की मानवता से पृथक् सत्ता का अस्वीकार एव उनकी उपासना के प्रति विद्रोह।

इस तरह हमने सक्षेप में देखा कि किस तरह बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद धार्मिक प्रवृत्तियों के परस्पर आदान प्रदान, विकास ह्रास, एव परिवर्तन हुए। इस परिवर्तन के कारण बौद्धों ने जिस साहित्य का विकास किया उसपर भी सक्षेप मे एक निगाह डाल लेनी है।

प्राचीन लोगों ने बौद्ध धर्म को दो भागों में विभक्त किया है। एक भाग उसके साहित्यिक रूप पर प्रकाश डालता है दूसरा उस साहित्य के भीतर विद्यमान धार्मिक प्रवृत्तियों और भावनाओं को बतलाता है। पहले को आगम कहते हैं और दूसरे को अधिगम।

आगम का मूलरूप कैसा रहा होगा ठीक ठीक कहना असम्भव है। शुरू शुरू में शायद उसमें कितने ही तरह के उपदेश (=प्रवचन) रहे होंगे और उनका किसी भी तरह का वर्गीकरण न रहा होगा। अध्ययन अध्यापन करते करते उनकी विशेषताओं की ओर गुरु-शिष्यों का ध्यान गया होगा तब अलग अलग टाइप के उपदेशों के अलग अलग नाम रक्खे गए होंगे। यह ठीक उसी तरह हुआ होगा जैसा कि वेदों की अध्ययन-अध्यापन-परम्परा में ऋषियों के मन्त्रों के सम्बन्ध में हुआ। लोगों ने देखा कि मन्त्रों मे कहीं उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम होता है, कहीं मध्यम पुरुषवाचक सर्वनाम और कहीं अन्य पुरुषवाचक सर्वनाम एव नाम होते हैं। उन्होंने इस तरह उत्तमपुरुष सम्बन्धी मन्त्रों को आध्यात्मिक, मध्यमपुरुष सम्बन्धी मन्त्रों को प्रत्यक्षकृत तथा अन्यपुरुष सम्बन्धी मन्त्रों को परोक्षाकृत कहा। इतना ही नहीं, उन्हे मन्त्रों मे कहीं स्तुति, कहीं आशीर्वाद, कहीं शपथ, कहीं अभिशाप, कहीं आचिख्यासा, कहीं परिदेवना, कहीं निन्दा, और कहीं प्रशसा दिखाई पड़ी। और इन्हीं बातों का ख्याल रखकर उन्होंने मन्त्रों के वर्णन को विविध भागों में विभक्त किया (निरुक्त, अध्याय ७, खण्ड २, ३)। बौद्ध साहित्य के बारे में भी यही बात हुई। शुरू मे बुद्ध और उनके शिष्यों के प्रवचन बिना किसी विभाग की ओर ध्यान दिए ही याद कर लिए जाते रहे होंगे पर जब उनका सकलन और सम्पादन तथा परिवर्धन हुआ होगा तब उनकी विशेषताओं की ओर ध्यान गया होगा। बुद्ध के प्रवचन कई ढग के हैं।

पालिपिटक में ही नौ प्रकार के प्रवचनों की चर्चा है—

(१) सूत्र (=सुत्त) : असग ने "सूचनात् सूत्रम" अर्थात् सूचना देनेवाला होने से सूत्र को सूत्र कहा है (महायान सूत्रालकार ९ ३)। उनके हिसाब से सूत्र से चार प्रकार की सूचनाए मिलती हैं। आश्रय की सूचना सूत्रों से मिलती है। आश्रय से यहा पर तीन बातों को समझना चाहिए। देश या वह स्थान जहा प्रवचन दिया गया। प्रवक्ता या वह व्यक्ति जिसने प्रवचन दिया। श्रोता या वह व्यक्ति जिसको समझाने के लिये उपदेश दिया गया। लक्षण की सूचना सूत्रों से मिलती है। लक्षण दो तरह के होते हैं। पहला है सवृति सत्य या व्यवहार सत्य। व्यवहार करते समय साधारण लोग तथा विशेषज्ञ जिस बात को जैसा कहते हैं वह व्यवहार सत्य है। जो बात केवल विशेषज्ञों के भीतर ही सीमित रहती है वह परमार्थ सत्य है। इन दोनों सत्यों का एक उदाहरण द्वारा समझना ठीक रहेगा। आकाश शून्य है , उसका कोई रगरूप नहीं, यह बात विशेषज्ञ लोग मानते हैं। पर व्यवहार मे साधारण लोग आकाश को नीला कहते हैं। यहां आकाश का रगरूप-हीन होना या मानना परमार्थ सत्य है। आकाश को नीला कहना व्यवहार सत्य है। धर्म की सूचना सूत्रों से मिलती है। मनुष्य के ज्ञान का जो भी स्थूल-सूक्ष्म सुज्ञेय-दुर्विज्ञेय, निश्चित-सदिग्ध है, सभीको एक धर्म शब्द से कहा जाता है। अर्थ की सूचना सूत्रों से होती है। किसी-न-किसी अभिप्राय को लक्ष्य मे रखकर ही प्रवचन होता है। उस अभिप्राय या निष्कर्ष ही को अर्थ कहा जाता है। सूत्र की यह व्याख्या बड़ी ही सुन्दर और हृदयगम्य है। "सूचनात् सूत्रम्" यह व्युत्पत्ति भी कम रोचक नहीं है। पर सूचना तो सभी

प्रकार के साहित्य से मिलती है फिर भी सबको सूत्र नही कहा जा सकता। जान पड़ता है बुद्ध और उनके कुछ पोछे तक ब्राह्मणलोग एक प्रकार का साहित्य तैयार कर रहे थे जिसे कल्प कहा जाता था। कल्प वेदाङ्गों मे से एक वेदाग है। इन कल्पों का विकास ब्राह्मणग्रन्थो के गद्य से हुआ जान पडता है। इतना अन्तर ज़रूर है कि ब्राह्मणो की शैली किसी बात को खूब विस्तार से कहने की है पर इन कल्पों मे हर बात बहुत सक्षेप से कही गई है। इनकी सक्षेप शैली का नाम ही सूत्र है। बौद्धवाङ्मय की शैली सक्षेप मे कहने की शैली नही है प्रत्युत बहुत विस्तार से कहने की शैली है पर जिस समय बुद्ध और उनके शिष्यो के प्रवचन हो रहे थे, उस समय सूत्र शब्द एक खास प्रकार के धार्मिक साहित्य के लिये रूढ होने लगा था और उस रूढ़ि से प्रभावित होकर ही बौद्धों ने अपने प्रवचनों को सूत्र कहा। ठीक उसी तरह जैसे जैनों ने अपने धार्मिक साहित्य को सूत्र कहा और अग भी कहा। अग शब्द भी बहुत ही सकेतपूर्ण है। वेदों के अग साहित्य (या वेदाग) का उसपर बहुत स्पष्ट प्रभाव जान पड़ता है।

(२) गेय (गेय्य)—अगलद्दूपमसुत्त (मज्झिम निकाय, २२वां सुत्त) की अट्ठकथा मे लिखा है कि सुत्तों मे जो गाथाओं का हिस्सा है वह गेय है। प्रवचनों का एक टाइप गाथा भी है और अट्ठकथा के हिसाब से गाथाए ही वस्तुत. गेय है। फलत गेय और गाथा विभाग वस्तुतः एक हो हैं। पर गेय और गाथा को अलग कहना इतना ही बतलाता है कि गेय या गान करने में केवल गाथाए ही काम आती थी—भले ही सब गाथाएं काम न आती हों। गेय और गाथाओं को यदि ऋचाओं और सामों से तुलना करें तो यह बात और भी साफ हो जाती है। ऋचाए ही जब गाई जाती हैं, तब साम कहलाती हैं 'ऋच्यध्यूढ साम गीयते।' सामवेद सहिता उठा लीजिये तो जान पडगा कि उसमे सभी ऋचाए ही हैं। गीतावस्था मे ऋचाए जसे साम कहलाती है वैसे गीतावस्था मे गाथाओं का नाम ही गेय है।

(३) व्याकरण (सक्षेप का विस्तार करना)। (४) गाथा। (५) उदान (=उल्लासवाक्य)। (६) इतिवुत्तक (इतिवृत्तक ?) (७) जातक। (८) अद्भुत धर्म। (९) वेदल्ल। इनमे उदान और इतिवुत्तक नाम से खुद्दक निकाय मे दो ही ग्रन्थ हैं। उदान मे बुद्ध के सभी उदान या उल्लास वाक्य शामिल नहीं हैं, कितने ही पिटक मे इधर उधर बिखरे पड़े हैं, जिनका सग्रह उदान में नहीं हुआ है। इतिवुत्तक मे प्रत्येक उत्तक के आदि मे वाक्य है—"वुत्त हेत भगवता वुत्तमरहतेति"—भगवान् ने यह कहा, अर्हत् ने यह कहा। चूंकि "यह कहा—इति उक्तम्" से सभी उत्तकों का आरभ है इसलिये इस पोथी का नाम इतिवुत्तक पड़ा। सस्कृत मे इसे इत्युक्तक कहना ठीक होगा पर सस्कृत ग्रन्थों मे इतिवृतक शब्द है (सद्धर्म पुण्डरीक, पृ०४५) जो पाली का ठीक प्रतिशब्द नहीं है। जातक से अभिप्राय उन कथाओं से है जिनका प्रवचनों मे उपयोग होता था। पालिपिटक मे आज जातक नाम से ५४७ जातकें हैं। पर जातके इतनी ही नहीं हैं, महागोविन्द जातक जैसी कितनी ही जातकें इस सग्रह से बाहर हैं। जातक कथाएं सचमुच भारत में प्रचलित प्राचीन समय की कथाओं का सकलन हैं। इनका सबसे पुराना रूप क्या होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। पालिपिटक में जातके आज अपनी अट्ठकथा के साथ परिमार्जित रूप मे मिलती हैं। इनमें जातकों को तीन भागों में विभक्त करके कहा है। दूरेनिदान, अविदूरे निदान और सन्तिकेनिदान। इन तीन विभागों में जातके दूरेनिदान के अन्तर्गत हैं।

पुराने समय में एक सुमेध नामक परिव्राजक थे। उन्हींके समय दीपकर नामक एक बुद्ध उत्पन्न हुए। लोग बुद्ध की अगवानी के लिये रास्ता सजा रहे थे। तब सुमेध भी वहा पहुँचे। लोगों ने जगह बताई। वहाँ कीचड़ था। वह सूखी मिट्टी से कीचड़ पाट भी न पाए थे कि बुद्ध उस रास्ते निकले। बुद्ध को आते देख इन्होंने अपना मृगचर्म कीचड़ पर बिछा दिया और स्वयं भी लेट रहे। उनके मन मे सकल्प हुआ कि मैं तपस्वी हूँ। चाहूँ तो मुक्त हो सकता हूँ। पर अपनी मुक्ति मे धरा ही क्या है। मै सबको तारूंगा और सबको तारने के लिये यत्न करूंगा। सुमेध यह सोच ही रहे थे कि बुद्ध निकले और तपस्वी को अपने लिये इस तरह श्रद्धायुक्त देख उसके मनोभाव को ताडकर उन्होंने भविष्यवाणी की यह आगे चलकर बुद्ध होगा। बाद मे सुमेध ने अनेक जन्म धारण किए तथा सब पारमिताए पूरी कीं। पारमिताए पूरी करते करते उन्होंने विभिन्न कल्पों मे चौबीस बुद्धों की सेवा की। यों बाद मे तुषित लोक मे उत्पन्न हुए। फिर तुषित लोक से कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन की पत्नी मायादेवी मे जन्म लिया। जन्म लुम्बिनी मे, नाम सिद्धार्थ हुआ। उनतीस वर्ष की अवस्था मे घर-बार छोड़ा और पैंतीस वर्ष की अवस्था में बुद्धगया में बोधि प्राप्तकर सारनाथ मे धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। यों पैंतालिस वर्ष तक मध्यदेश मे धर्म का प्रवचन करते रहे और अस्सी वर्ष की अवस्था मे कुशीनगर मे उनका परिनिर्वाण हो गया।

इस कथा मे दीपकर तथागत के दर्शन से लेकर तुषितलोक मे उत्पन्न होने तक की कथा 'दूरेनिदान' कहलाती है। जन्म से बुद्धगया मे बोधिप्राप्ति तक की कथा 'अविदूरेनिदान' कहलाती है। फिर परिनिर्वाण तक की कथा 'सन्तिकेनिदान' कहलाती है।

बुद्ध के मानवीय स्वरूप की कथा अविदूरेनिदान और सन्तिकेनिदान के भीतर ही है, मानवीय बुद्ध के साथ दूरेनिदान को अतिकथाए कैसे और कब कब जुडीं तथा उनकी सख्या में वृद्धि और विकास कब कब और कैसे कैसे हुआ—कुछ भी ठीक नहीं। पर अविदूरे-निदान और उसके साथ अतिकथाओं का जोड तोड कदाचित् ईसा की पहली शताब्दी तक बहुत कुछ व्यवस्थित रूप पा चुका था। बुद्धवस मे सुमेध बोधिसत्त्व कोणागमन बुद्ध और उनके शिष्यों को चीनपट्ट भेंट देते है (पृ० ३८)। चीन देश का चीन नाम छिन् राजवश के कारण हुआ है जिसका आरम्भ ई० पू० २५५ से होता है। चीन वस्तुत छिन् का ही भारतीय उच्चारण है। चीन शब्द को वहा के वस्त्र के साथ भारत के भीतरी भागों से पहुँचते पहुँचते और भी कुछ देर लगी होगी और उसका बुद्धवस की रचना मे प्रवेश शायद और भी देर से हुआ होगा।

जो हो, आरम्भ में जातक किसी विशेष प्रकार के साहित्य का नाम न था प्रत्युत प्रवचन करते समय पुरातन जन्म की कथाओ के उपयोग का नाम ही जातक था। उन्हींके आधार पर जातकों और अवदानों की सृष्टि हुई है।

अदभुत धर्म को खोलते हुए बुद्धघोष ने कहा है भिक्षुओ, ये चार आश्चर्य अद्भुतधर्म आनन्द मे हैं। इस क्रम मे जितने भी आश्चर्य अद्भुत धर्मयुक्त सूत्र हैं, वे सभी अद्भुत धर्म हैं। वदल्ल वर्ग के प्रवचन कैसे होते थे कुछ पता नहीं। विन्टरनित्ज़ का ख्याल है कि जिन प्रवचनों में प्रश्नोत्तर होते थे वे वेदल्ल कहलाते थे।

स्थविरों के हिसाब से प्रवचनों के यही नौ टाइप है। दूसरे हीनयान सम्प्रदायों में

भी कदाचित् यही होंगे। पर सर्वास्तिवादियों और महायानियों ने प्रवचनों के बारह टाइप ढूँढे हैं (अभिधर्म कोश, २३५)। धर्मसंग्रह मे, जो महायान के ही धार्मिक शब्दों का संक्षिप्त कोष है, नौ ही प्रवचनों के टाइप गिनाए हैं पर वहा वेदल्ल नही है। वेदल्ल की जगह वैपुल्य है। वैपुल्य प्रवचनों का कौन-टाइप था पता नहीं। यदि वैपुल्यसूत्र (=महायानसूत्र) उस टाइप मे माने जाए तो बात कुछ समझ मे आ सकती है पर अभी तो उनकी गणना सूत्र टाइप के प्रवचनों मे ही है। जहा तक ख्याल है विषय-भेद से एक ही प्रवचन दो प्रकार के टाइप के अन्तर्गत हो सकता है। वैपुल्यसूत्र सूत्रों के भी अन्तर्गत हो सकते हैं और वैपुल्य के भीतर भी। वैपुल्य के अतिरिक्त निदान, अवदान, और उपदेश—इन और तीन टाइपों का ज़िक्र किया गया है (महाव्युत्पत्ति LXII)। प्रवचन के उस भाग का नाम निदान है जिसमें किसीभी प्रवचन के पहले के पूर्वलक्षणों का ज़िक्र होता है। सद्धर्मपुण्डरीक का निदानपरिवर्त इसका सुन्दर उदाहरण है। प्रवचन से पूर्व बुद्ध की समाधि लग जाती है। उनके ऊर्णाकोश से एक किरण निकलती है और भवाग्र तक सब लोक-लोकान्तर प्रकाशित हो जाते हैं। इस ऋद्धि प्रातिहार्य को देख मैत्रेय बोधिसत्त्व मञ्जुश्री बोधिसत्त्व से पूछते हैं कि यह ऋद्धिप्रातिहार्य क्यों बुद्ध ने दिखाया। मञ्जुश्री उत्तर देते हैं कि आज भगवान् वैपुल्य सूत्रराज सद्धर्मपुण्डरीक का प्रवचन करने वाले हैं, उसीका यह पूर्वनिमित्त है। इस विशेष उदाहरण से यह समझा जा सकता है कि प्रवचनों में प्रवेश करानेवाला प्रस्तावना के जैसा पूर्वभाग निदान है। अवदान में जन्म कथाए, जीवनिया तथा धार्मिकों और पुण्यात्माओं के चरित गूथे होते हैं। अवदानों का एक बड़ा साहित्य हमारे बीच है उसमे यह बात बिलकुल स्पष्ट है। उपदेश के बारे मे ठीक पता नहीं कि प्रवचनों का कौन-सा टाइप है। इसका तिब्बती अनुवाद बप्-पर-स्तन्-प है। नसीहत शब्द से जो भाव आज प्रकट होता है शायद वही उपदेश का भाव है।

आज हमें जो बौद्ध साहित्य उपलब्ध है वह प्रवचनों के टाइपों के अनुसार संगृहीत नहीं है और हो भी नहीं सकता था। और यदि परिश्रम से इनके हिसाब से संग्रह किया जाता तो एक ही प्रवचन को जो एक समय मे दिया गया वह अपने टाइपों के भेद से अनेक भागों में बँट जाता और उनकी कड़ी मिलानी भी कठिन हो जाती। गेय और गाथा-जैसे विभाग जिनका अलग से संग्रह हो सकता था, उनका भी संग्रह नहीं किया गया है। उदान, इत्युक्तक, और जातक एव अवदानो का जो संग्रह हुआ भी है वह भी अपने आप मे परिपूर्ण नहीं है। आज जो साहित्य उपलब्ध है वह तीन पिटकों में विभक्त होने से त्रिपिटक कहलाता है। पहला पिटक सूत्रपिटक है जिसमें धर्म विषयक उपदेश हैं। दूसरा विनय पिटक है जिसमें आचार-नियमो का वर्णन है। तीसरा अभिधर्म पिटक है जिसे दार्शनिक पिटक कहना चाहिए। असग ने अभिधर्म की व्याख्या करते कहा है (महायान सूत्रालकार ९।३) कि एक ही धर्म को अनेक भेदो में विस्तार के साथ कहा जाता है इसलिये "अभीक्ष्ण धर्मोऽभिधम" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसे अभिधर्म कहते हैं। अभिधर्म मे दूसरे मत के वादों का खण्डन भी होता है इसलिये "अभिभवति [परप्रवादन्]" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसे अभिधर्म कहते हैं। सूत्रो का भाव अभिधर्म से खूब समझ में आ जाता है इसलिये "अभिगम्यते सूत्रार्थ एतेन" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसे अभिधर्म कहते हैं। यह तीनों पिटक बौद्धो के सब सम्प्रदायो में होते थे। आज स्थविरवादियों के पालि

त्रिपिटक को छोड़कर किसी भी सम्प्रदाय का पूरा त्रिपिटक उपलब्ध नहीं है। सर्वास्तिवादियों के त्रिपिटक का कुछ खण्डित अंश प्राप्त है। महायानियों के कुछ सूत्र प्राप्त हैं पर पूरा त्रिपिटक उपलब्ध नहीं है। चीनी और तिब्बती अनुवादों में अवश्य बहुत-सा बौद्ध साहित्य छिपा है पर उसका अल्पतर भाग ही प्रकाश में आ पाया है।

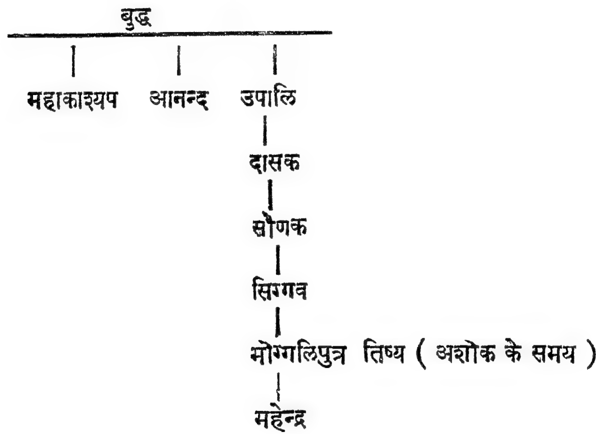
आरम्भ में किस तरह साहित्य विकसित हुआ होगा और किस तरह अनेक सम्प्रदाय बने होंगे, इस कहानी पर स्थविर-परम्परा थोड़ा बहुत प्रकाश डालती है। बौद्ध साहित्य के निर्माण में कितने ही सम्प्रदायों का हाथ रहा है। कितने व्यक्तियों ने साहित्य के संकलन सम्पादन एवं निर्माण तथा परिवर्द्धन में भाग लिया होगा बौद्ध परम्परा उनके बारे में बहुत उदासीन है। फिर भी कुछ प्रमुख व्यक्तियों की ओर वह संकेत करती है। बुद्ध के जीवन में उन्हें अनेकों योग्य और विद्वान् शिष्य मिले उनमें शारिपुत्र, महाकाश्यप आनन्द, और उपालि के नाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। पालिपिटक में अभिधर्म पिटक तो परम्परा के अनुसार शारिपुत्र का अनुप्रवचन माना जाता है। सूत्र पिटक में कितने ही शारिपुत्र के प्रवचन हैं जिनसे उनका दार्शनिक बुद्धि का पता बिना चले नहीं रहता। शारिपुत्र, बुद्ध के जीवन में ही इस संसार से उठ गए थे। बाकी तीनों बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद भी बहुत दिन तक जीवित रहे। बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद जब लोग शोकाकुल थे, बूढ़े समुद्र ने कहा था—'अब शोक मत करो, बुद्ध चले गए सो अब आज़ादी ही आज़ादी है। जैसी मरज़ी होगी अब करेंगे। कोई कहनेवाला नहीं कि तुम्हें यह करना चाहिए, यह न करना चाहिए'। इस तरह की बातों से बुद्ध के नैष्ठिक शिष्यों को बड़ा धक्का लगा। उन्होंने सोचा जब धर्मसंघ में इस तरह उद्दण्ड विचारवाले हैं तब आगे पता नहीं क्या होगा। इस ख्याल से बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट **धर्म तथा विनय** का संगायन करना ठीक समझा। महाकाश्यप की अध्यक्षता में पांच सौ वीतराग बुद्ध के शिष्य राजगृह में वैभार पर्वत की सप्तपर्णी गुहा में एकत्रित हुए। आनन्द बुद्ध के साथ छाया की भांति अन्तरंग रहे थे। सो धर्म के प्रवचनों का उनकी प्रधानता में उन भिक्षुओं ने पाठ किया जिन्हें स्मृत थे, और उनपर आनन्द की गवाही होने से वे पक्के हो गए। धर्म के कौन कौन प्रवचन उस समय पाठ किए गए इसका आज हमारे पास कोई ब्यौरा नहीं है, पर सूत्रपिटक में जो कुछ है वह सब उस संगीति में नहीं पढ़ा गया था। उसका अधिकांश बाद में स्थविरों की परम्परा में ही विकसित हुआ है। उपालि की प्रधानता में विनय या भिक्षुओं के आचार नियमों का पाठ किया गया। यह ठीक भी था क्योंकि पिटक से पता चलता है कि बुद्ध के समय में ही उपालि सर्वश्रेष्ठ विनयधर माने जाने लगे थे। प्राचीन धर्म का प्रतिनिधित्व आज का सूत्रपिटक करता है तथा विनय का विनय पिटक। यद्यपि इनमें परवर्ती अंश भी बहुत हैं पर प्राचीन अंश भी भरे पड़े हैं। सुत्तनिपात के सूत्रों में भाषा की प्राचीनता आज भी उन्हें सबसे प्राचीन बतलाती है। सूत्रों में बिखरे हुए बुद्ध के उदान भी परम पुरातन हैं। धम्मपद तथा कितनी ही और गाथाएं भी उसी तरह पुरानी हैं। पर इनमें नये अंश भी बहुत मिल गए हैं जिनकी छानबीन करना बहुत कठिन है क्योंकि एक ही सूत्र में कितने ही अंश नए हैं, कितने ही बहुत पुराने हैं। राहुल सांकृत्यायन ने पुराने और नए अंशों की सामान्यतया पड़ताल करने की एक सरल तरकीब बतलाई है। उनके ख्याल से सूत्रों में चमत्कारों और बुद्ध के लोकोत्तर प्रभाव की चर्चा कम है, विनय में उससे अधिक है,

अट्ठ-कथाओं मे सबसे अधिक है, फलत इनको इसी क्रम से प्रमाण मानना चाहिए (विनयपिटक की भूमिका)। सचमुच चमत्कारिक और लोकोत्तर चर्चा बाद में धीरे धीरे मिलाई गई है और कहीं पर तो मिलाते हुए वह इतनी असम्बद्ध हो गई है कि मिलावट का पता चल ही जाता है। विन्टरनित्ज़ ने महापरिनिर्वाण सूत्र मे इस तरह की मिलावट को ढूंढा है (इंडियन लिटरेचर II P 38-41)। अपने जीवन के अन्तिम दिनों मे बुद्ध बीमार थे। आनन्द बहुत कुछ घबरा गए थे पर बुद्ध की हालत उस बार कुछ सुधर गई। तब आनन्द ने बुद्ध से कहा भन्ते, आपकी बीमारी से मुझे धर्म-कर्म सभी भूल गया था। खाली इतना भरोसा जरूर था कि जब तक भगवान् भिक्षु संघ से कुछ कह न लेंगे तब तक शरीर न छोड़ेंगे। बुद्ध ने इस बात को सुनकर कहा आनन्द भिक्षुसंघ मुझसे और क्या चाहता है। तथागत ने धर्म की कोई बात अपनी मुट्ठी मे नहीं छिपा रक्खी है। मै अब बहुत बूढा हो गया हू, अस्सी की उमर है। जैसे पुरानी गाड़ी को बाँधबूँध कर चलाया जाता है उसी तरह मेरा शरीर चल रहा है। इसलिये दूसरे की शरण न खोज अपनी शरण खोजो, धर्म की शरण खोजो। इस अंश के बाद ही आगे चलकर बात बदल दी गई है और तथागत के मुंह से कहलवाया गया है आनन्द, तथागत चाहे तो कल्प भर तक ठहर सकते हैं। दोनो अंशों को देखते ही जान पडता है कि उनमें परस्पर विरोध है। पर उस पुराने समय मे जब कि महात्माओं की लोकोत्तर शक्ति पर भरोसा किया जाता था इस तरह के विरोध की ओर ध्यान नहीं जा सकता था और यदि ध्यान गया होता तो इस तरह की परस्पर विरोधी बातें एक ही जगह आगे पीछे न रख दी जातीं। एक ओर तथागत कहते हैं कि मेरा शरीर जर्जर गाड़ी-जैसा है जो कभी भी टूट सकता है और दूसरी ओर तथागत स्वयं कहते हैं कि वे चाहे तो कल्प भर ठहर सकते हैं। यह विरोध स्पष्ट बतलाता है कि एक अंश पहले का है, दूसरा बाद का। जब एक सूत्र के भीतर पुराने और नये अंशों का यह हाल है तब सारे त्रिपिटक की बात का कहना ही क्या! इस पहली संगीति मे अभिधर्म के संगायन की बात नहीं है। इसके बाद के सौ वर्षों मे कितने परिवर्तन हुए होंगे ठीक पता नहीं पर एक बात बहुत साफ है कि विनय के नियमों की अवहेलना होनी शुरू हो गई थी। वैशाली के भिक्षु धन दौलत भी बटोरने लगे थे तथा और भी कितनी ही बातें करने लगे थे जिनको पुराने समय के भिक्षु नहीं करते थे। इन सब दोषों को दूर करने के लिये वैशाली मे सात सौ भिक्षु एकत्रित हुए। संगीति में ही वैशाली के भिक्षुओं का बहिष्कार हुआ और उन्होंने कौशाम्बी जाकर एक बड़ी जमात बना अपने मन्तव्य के अनुसार धर्म और विनय का संगायन किया, तब से दो सम्प्रदाय हो गए। एक बूढों का या पुराने ढर्रे वालों का जो स्थविरवादी कहलाए तथा दूसरे नए ढर्रेवाले जिनकी जमात शायद पुराने ढर्रेवालों से बहुत बडी थी इसलिये महासांघिक कहलाए। पहली संगीति मे जिन्होंने नेतृत्व का काम किया उनमे महाकाश्यप, आनन्द और उपालि प्रधान थे। इसमे यश, सम्भूत शाणवासी या शाणवास, सर्वकामी, और रेवत प्रधान थे। अशोकावदान मे बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद की दो शताब्दियों से कुछ अधिक समय के भीतर तीन आचार्यों के होने का ज़िक्र है—

बुद्ध महाकाश्यप आनन्द
|
शाणवास (बुद्ध के परिनिर्वाण के एक शती बाद)
|
उपगुप्त (बुद्ध के परिनिर्वाण के दो शती बाद, अशोक के समय)
|
धीतिक

राहुल साकृत्यायन इस परम्परा को बहुत सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। दो सौ से ऊपर, लगभग ढाई सौ बरसों के भीतर आनन्द, शाणवास, और उपगुप्त सिर्फ तीन हो जने, यह बात बहुत सन्देह मे डालने वाली है। जो भी हो, स्थविरों के हिसाब से सम्भूत शाणवासी को द्वितीयसगीति मे मुख्यरूप से भाग लेते हुए देखते हैं फलत उनका यह समय दोनों के हिसाब से निश्चित है।

इस तरह द्वितीय सगीति तक एक शताब्दी के भीतर जो कुछ गड़बडे हुई उससे बौद्धों मे दो भेद हो गए—स्थविरवादी और महासाघिक। बाद को एक शताब्दी से कुछ ऊपर के समय मे भेद बढते बढते अठारह हो गए। इस समय तक स्थविरों की आचार्य-परम्परा यों है—



दूसरी सगीति से तीसरी सगीति के बीच लगभग सौ बरस से ऊपर के समय में अभिधर्म की बहुत कुछ रूपरेखा पक्की ही गई थी फिर भी यह कहना कठिन है कि अभिधर्म का कितना साहित्य तैयार हुआ था। आज अभिधर्म के जो ग्रन्थ हैं उनमे मोग्गलिपुत्र तिष्य का एक ग्रन्थ कथावस्तु भी है। परम्परा के अनुसार मोग्गलिपुत्र तिष्य ने बौद्धधर्म के भीतर अनेकों सम्प्रदाय बढ जाने से उनका शोधन करने के लिये तीसरी सगीति में, जो पाटलिपुत्र (पटना) के अशोकाराम में हुई, कथावस्तु की रचना की। आज कथावस्तु जिस रूप में प्राप्त है, उसमे सिर्फ अठारह निकायों के ही सिद्धान्तों का खण्डन नहीं, प्रत्युत और भी कितने निकायों का खण्डन है।

कथावस्तु मे खण्डित प्राचीन अठारह निकाय कैसे विकसित हुए? महावश (पचम

परिच्छेद) में उनका ब्योरा यों है : प्रथम शताब्दी में केवल एक स्थविरवाद ही था, अन्य आचार्यवाद पीछे पैदा हुए। दूसरी संगीति करनेवाले स्थविरों द्वारा मर्दन किए गए उन भिक्षुओं ने महासांघिक नामक आचार्यवाद की स्थापना की। फिर उसमें गोकुलिक और एकव्यावहारिक पैदा हुए। गोकुलिकों से प्रज्ञप्तिवादी तथा बाहुलिक और उन्हींसे चैत्यवादी। महासांघिकों के सहित यह छः हुए।

फिर स्थविरवाद ही में से महीशासक और वात्सीपुत्रीय यह दो सम्प्रदाय हुए। वात्सी-पुत्रीयों से धर्मोत्तरीय भद्रयानिक, षण्णागारिक, और सम्मितीय हुए। महीशासकों में से सर्वास्तिवाद और धर्मगुप्तिक यह दो सम्प्रदाय हुए। सर्वास्तिवाद से काश्यपीय, उनसे सांक्रान्तिक, और उनसे सूत्रवादी हुए। अन्य सब सम्प्रदाय पीछे हुए। कथावस्तु की अट्ठकथा में इसी तरह इनका उल्लेख है।

आज जिस रूप में कथावस्तु उपलब्ध है उसमें उपरोक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त जिन अन्य सम्प्रदायों का खण्डन है, वे हैं—अन्धक, अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थक, वेतुल्ल (वैपुल्य) उत्तरापथक और हेतुवादी। इनमें वैपुल्य प्राचीन महायान का ही रूप है। अट्ठकथा ने वैपुल्य को महाशून्यतावादी कहा है। शून्यवाद महायान का ही दार्शनिक सिद्धान्त है। इससे वैपुल्य के महायान होने में सन्देह नहीं रहता। यह महायान निश्चित रूप से नागार्जुन से पूर्व का है क्योंकि टीकाकार ने भले ही वैपुल्य को शून्यतावादी कहा पर मूल कथावस्तु में इस बात की ओर संकेत नहीं है। इससे जान पड़ता है कि शून्यवाद का सिद्धान्त उसमें बाद में प्रविष्ट हुआ। ई० पू० पहली शती में यह सिंहल पहुँचा जिससे साफ है कि वह भारत में बद्धमूल हो चुका था। निकायसंग्रह से पता चलता है कि वैपुल्यवादियों ने वैपुल्यपिटक, अन्धकों ने रत्नकूट, सिद्धार्थकों ने गूढ़ वेस्सन्तर, राजगिरिकों ने अंगुलिमालपिटक (? अंगुलिमालसूत्र नन्ज्यो ४३४), पूर्वशैलीयों ने राष्ट्रपालगर्जित (? राष्ट्रपाल परिपृच्छा नन्ज्यो ८७३) की रचना की। आज यह सब सूत्र महायान सूत्र ही कहलाते हैं। सो महायान इन सम्प्रदायों के एकीकरण का ही नाम जान पड़ता है।

पूर्व शैल और अपर शैल आन्ध्रदेश में धान्यकटक के पूर्वी और पश्चिमी पर्वत हैं जिनके नाम से पूर्वशैलीय और अपर शैलीय नाम पड़े। अन्धक निकाय का नाम तो आन्ध्रदेश के नाम पर ही है। राजगिरिक और सिद्धार्थक भी आन्ध्रदेश के ही सम्प्रदाय रहे होंगे। इससे जान पड़ता है कि आन्ध्रदेश में ही, विशेषरूप से धान्यकटक में, महायान का विकास हुआ और यहीं उसके साहित्य की भी नींव पड़ी। बाद में सम्पूर्ण भारतवर्ष ने इसमें साथ दिया। इन आन्ध्रदेश के सम्प्रदायों का विकास महासांघिक से हुआ। आन्ध्रदेश के धान्यकटक में जो स्तूप था उसे महाचैत्य कहते थे। उसका उल्लेख मञ्जुश्री मूलकल्प के दसवें पटल में यों है

श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणपथसञ्ज्ञके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिन धातुधरेभुवि ॥

इस चैत्य के नाम से वहांवाले चैत्यवादी कहे जाते थे जो कि महासांघिकों के भीतर के ही हैं। जिस देश में चैत्यवादी थे, वहीं पर बाद में विकसित दूसरे सम्प्रदायों के विकास में अपने से

पूर्ववर्ती चैत्यवाद से अप्रभावित रहना सम्भव ही कैसे हो सकता था। इस तरह महायान की प्रतिष्ठा बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद की पंचशती के अन्तिम छोर तक पूरी हो जाती है और उसका विकास सारे भारत में नहीं भारत से बाहर भी होता है। दूसरे सम्प्रदाय भी भारत मे तथा बाहर फलते रहे। उनके भी विकास और ह्रास की कहानी, जो आज अन्धकार में है, कम रोचक न रही होगी।

बुद्ध स्वयं मध्यदेश अर्थात् बिहार और संयुक्त प्रान्त के भीतर ही घूम घूम कर प्रचार करते रहे पर उनके समय मे ही उनके शिष्य मध्यदेश की सीमा पार कर चुके थे। विनयपिटक में कितने ही आचार-नियम मध्यदेश के बाहर के देशों को ख्याल मे रखकर बनाए गए हैं।

बुद्ध के बाद अशोक के समय में बौद्ध धर्म और भी दूर दूर पहुँचा। मोग्गलिपुत्र तिष्य ने काश्मीर और गन्धार मे माध्यन्तिक, महिषमण्डल (नर्मदा के दक्षिण, आधुनिक खानदेश) मे महादेव, बनवास (वर्तमान मैसूर के उत्तरी भाग) म रक्षित, अपरान्त (समुद्रतट पर बम्बई से सूरत तक के प्रदेश मे) योन (? जवान, युवा) धर्मरक्षित, महाराष्ट्र (=स्याम ? सम्भवत आज का मरहट्ट देश) मे महाधर्मरक्षित, यवन (यूनान्) मे महारक्षित, हिमवन्त मे मध्यम, स्वर्णभूमि [ब्रह्मा] मे शोण और उत्तर, तथा लका में महेन्द्र, इट्ठीय, उत्तीय, सम्बल और भद्रशाल स्थविरों को भेजा। संघमित्रा भी बाद मे लका गई।

स्थविर लोग इस तरह दूर दूर गए और उनका स्थविरवाद भी दूर दूर तक गया पर वह लका, ब्रह्मा, और स्याम को छोड़कर कही भी बद्धमूल न हो पाया। तीसरी संगीति मे मोग्गलिपुत्र तिष्य ने जिनका बहिष्कार किया था उन्होंने नालन्दा मे अपना डेरा डाला। नालन्दा की सत्ता बारहवी शती के अन्त तक रही। नालन्दा अन्त तक सर्वास्तिवादियों का केन्द्र रहा। खाली सर्वास्तिवाद का ही नहीं महायान का भी। दोनों साथ रहे और दोनों में कितने ही विद्वान हुए जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

स्थविर लोग जिस तरह धर्म प्रचार के लिये बाहर गए उसी तरह दूसरे सम्प्रदाय भी गए होंगे और उन्होंने भी धर्म प्रचार किया होगा। जहां जहां स्थविर पहुँचे होंगे वहां वहां दूसरे भी ज़रूर गए होंगे तथा जहां जहां स्थविर नहीं गए होंगे वहां भी कितने ही लोग पहुँचे होंगे। आज उन सबके ग्रन्थ लुप्तप्राय होने से कुछ कहा नहीं जा सकता कि वे किस तरह बाहर गए होंगे। तारानाथ ने अपने इतिहास में सर्वास्तिवादियों के धर्म प्रचार का ज़िक्र किया है: उपगुप्त (अशोक समकालीन) ने मथुरा मे धीतिक को दीक्षा दी। धीतिक उज्जयिनी के रहनेवाले थे। धीतिक ने तुखार के राजा मीनार को दीक्षित किया। मीनार और उसके पुत्र इम्हस ने बौद्ध धर्म को बहुत सहायता दी। शिफनर का ख्याल है मीनार, मेनान्डर (Menander) और उसका पुत्र इम्हस ही हरमेओस (Hermaios) है। इनके शिष्य धीतिक ने कामरूप मे धनी ब्राह्मण सिद्ध और विदिशा या मलाया मे अदर्प को दीक्षित कर वहां बौध धर्म की जड़े जमाई तथा उज्जयिनी मे उन्होंने कृष्ण या काल को दीक्षा दी। कृष्ण के शिष्य सुदर्शन हुए जो भरुकच्छ के थे। पोबध भी बाद मे कृष्ण के अनुवर्ती हुए। कृष्ण और सुदर्शन ने सिन्धु और काश्मीर में धर्म-प्रचार किया। कृष्ण ने दक्षिण भारत और लकाद्वीप तथा दूसरे द्वीपों मे भी धर्म फैलाया। पोबध ने उत्कल (उड़ीसा) मे धर्म प्रचार किया।

धर्म प्रचार को यह कहानी अशोक काल के आस पास की है। बाद मे धर्म प्रचार का कार्य किस तरह चलता रहा ठोक नहीं। अशोक के बाद, डेढ़ शताब्दो ई० पू० के आसपास स्थविरवादी नागसेन की यूनानी राजा मिलिन्द (मीनाण्डर) से सागल (स्यालकोट, पजाब) में धर्म चर्चा का पूरा पूरा वर्णन है। मिलिन्द बौद्ध धर्म का अनुयायी हो जाता है। मिलिन्द ही नहीं अनेकों यूनानी बौद्ध धर्म की ओर खिचते हैं। सचमुच उस युग में बौद्ध धर्म ही था जो बिना सकोच के विदेशियों को अपना लेता था।

इसके बाद बौद्ध धर्म का प्रचार जिस तरह चलता रहा, हमे बहुत कुछ चीन देश के ग्रन्थों से पता चलता है। चीन मे बौद्ध धर्म कैसे पहुँचा और कब पहुँचा ? इसके बारे में अनेकों दन्तकथाए हैं। उन दन्तकथाओं को सुलझाने का अभी बहुत थोड़ा जतन हुआ है। ख्याल है कि बौद्ध धर्म चीन में ई० पहली शती मे पहुँचा। मध्य एशिया मे वह इससे पहले ही पहुँचा। चीन मे धर्म प्रचारक मध्य एशिया, काश्मीर तथा भारत के दूसरे भागों से ग्यारह-वीं शताब्दी के प्रथम पाद तक जाते रहे। जाते ही नहीं, चीन से भी लोग धर्म जिज्ञासा के भाव से भारत आते रहे। भारत से चीन जाने वालों मे कुमारजीव तथा चीन से भारत आने वालों में श्यूआन्-चुआङ् ने चीनी भाषा को जो कुछ दिया वह बहुत ही मूल्यवान रहा है। बौद्ध ग्रन्थों के जितने अनुवाद हुए उनमे भाषा और भाव की दृष्टि से दोनों का अनन्य स्थान है। इनके अनुवाद बहुत ही टकसाली और प्रामाणिक हुए हैं। श्यूआन-चुआङ् के अनुवाद मूलके काफी नज़दीक हैं। कुमारजीव के अनुवाद भी मूल से दूर नहीं हैं पर वे भावानुवाद हैं अक्षरानुवाद नहीं। बात यह है कि कुमार जीव ने जिस पद्यगन्धि भाषा मे अनुवाद किया है उसमे अक्षरानुवाद सम्भव हो न था। कुमारजीव के अनुवादों का अपना स्थान है, उनकी शैली का अनुकरण बाद में किसीसे करते न बना। चीनी में यद्यपि हीनयान और महायान दोनों प्रकार के ग्रन्थों के अनुवाद हुए पर चीन मे धर्म का रूप महायान ही रहा, जिससे बहुत स्पष्ट है कि वहाँ जानेवाले धर्म प्रचारक महायान का ही प्रचार करते थे।

इस तरह चीन में बौद्ध धर्म ईसा की पहली शती मे पहुँचा तथा खूब फला फूला। ३७२ ई० में कोरिया मे, और ५३८ ई० मे जापान मे भी स्थापित हुआ। पास पड़ोस के तिब्बत मे वह बहुत देर से पहुँचा और शुरू शुरू मे उसके पहुँचने को कहानी भी बड़ी रोचक है। नेपाल के राजा अशुवर्मा की कन्या ५८० ई० मे तथा चीनराज की कन्या कोङ्ज़ो ५८१ ई० मे ल्हासा गईं। इन दोनों का विवाह तिब्बत के राजा ह्रि-चुन (= खि-चुन्) के साथ हुआ (तिब्बत मे बौद्ध धर्म)। यह दोनों राज कन्याए अपने साथ बौद्ध प्रतिमाए लाई थीं और इन्हीं के द्वारा पहले पहल बौद्ध धर्म का पता तिब्बत को चला। तिब्बती भाषा लिखने की उस समय कोई लिपि न थी। उस राजा ने थोन्-मि-अनु-सम्भोट को भारत में लिपि सीखने भेजा। थोन्-मि ने लिपि सीखकर तिब्बती भाषा का व्याकरण बनाया और इस योग्य किया कि वह लिखने के काम आ सके।

तिब्बत में इस तरह बौद्ध धर्म का प्रवेश होते हुए भी बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा बहुत बाद में हुई। नालन्दा के प्रसिद्ध विद्वान् शान्तरक्षित ने पहले पहल तिब्बत में धर्म की प्रतिष्ठा की। इन्होंने सम्-यस् (= ब्सम्-यस्) बिहार की प्रतिष्ठा करवाई और ७६७ ई० मे सात भोटकुलपुत्रों

को भिक्षु बनाकर भिक्षु सघ की स्थापना की। इन्हींके अनुगामी भिक्षुओं मे पद्मसम्भव को भोट में बड़ी ख्याति है। राहुल जी के शब्दों मे इनका भोट मे बुद्ध से भी अधिक आदर है। यों धर्म की प्रतिष्ठा होने पर भारत से पचासों विद्वान् गए जिनकी सहायता से बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद हुआ।

बौद्धधर्म मे महायान का प्राणभूत सिद्धान्त प्राणिहित करना और तदर्थ सब कुछ निछावर कर देना है। इस सिद्धान्त ने वहां के राजा मु-नि-ब्चन्-पो (७८५-८६ ई०) पर बहुत प्रभाव पड़ा। अपने उन्नीस महोने के शासनकाल मे तोन बार धन का समवितरण किया। सुनने में यह पागलपन जरूर लगेगा पर उस पागलपन के पोछे जो पवित्र आदर्श है उससे इनकार नहीं किया जा सकता। और इसी पागलपन के कारण अन्त मे अपनी मा के द्वारा विष दिए जाने पर इस बोधिसत्वकल्प राजा का शरीरपात हुआ।

तिब्बत मे बौद्धधर्म अनेक उतार चढाव के साथ अपनी सत्ता जमाए रहा। १०४२ ई० में विक्रमशिला (विहार) के प्रसिद्ध विद्वान् दीपकर श्रीज्ञान तिब्बत गए। इन्होंने शान्तरक्षित के बाद तिब्बत के बौद्धधर्म में उत्पन्न कुरीतियों को दूर करने का बड़ा यत्न किया। तिब्बत जो लोग गए उनकी सख्या बहुत बड़ी है। बड़े बडे पण्डित तथा बड़े हो मस्तमौला लोग भी वहां पहुँचे। दोपकर श्रीज्ञान जिस शतो मे तिब्बत गए उसीमें एक पडित स्मृतिज्ञानकीर्ति भी गए। यह तिब्बत पहुँच भी न पाए थे कि इनका दुभाषिया रास्ते मे मर गया। इनके एक साथी ने तो कुछ आश्रय ढूढ लिया पर इन्होंने इस बात को फिजूल समझा। और खानाबदोश की तरह तम्बुओं में रहनेवाले भोटियों में से किसीके यहा चरवाही करने लगे। जानवरों को खूब अच्छी तरह चराते। मालिक को तो खुश रखते ही पर मालकिन का खूब ख्याल रखते। और तो और दूध दुहते हुए एक बार मालकिन को बैठने के लिये कुछ ऊंची चीज़ की जरूरत पड़ी, उसने इनसे फरमायश की कि तुम जरा पीठ के बल पड रहो तो मे दूध दुहूँ। फिर क्या था अपनी मालकिन का मन रख ही तो लिया!

इस तरह बौद्धधर्म का प्रचार होते होते जो सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु पैदा हुई वह उसका साहित्य है। यह साहित्य दो तरह का है। एक तो साम्प्रदायिक साहित्य जिसे हम सामान्यतया त्रिपिटक कहते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय का अलग अलग त्रिपिटक था। स्थविरवादियों के पालि-पिटक तथा सर्वास्तिवादियों के खण्डित सस्कृतपिटक और सकृत मे कितने ही महायान सूत्रों को छोड़कर बहुत सी सामग्री तिब्बतो और चोनो अनुवादों में ही छिपो हुई है। इस साम्प्रदायिक साहित्य मे एक व्यक्ति का हाथ नहीं था पर एक एक समूह का हाथ था। सामूहिक रूप से लोग उस समय लोक और परलोक के बारे मे जिस तरह सोचते थे, उसका प्रतिबिम्ब इस साहित्य मे है। लोक के विषय में यह साहित्य जो सूचनाए देता है वह बड़ा ही मूल्यवान है, दूसरे प्रकार का जो साहित्य है वह है उन उन सम्प्रदाय के विशेष विशेष व्यक्तियों की अपनी रचना। अलग अलग व्यक्तियों की रचना होने के कारण इस साहित्य से दो बातों का पता चलता है। एक तो यह कि उस समय को दुनिया में साधारणतया जन समूह की चिन्ता और विचारों का क्या रूप था। दूसरा यह कि उन उन विशेष व्यक्तियों ने उस चिन्ता या विचारधारा को आगे बढ़ाने मे मदद दी या पीछे लौटाने में अपनी मेहनत बरबाद की। साहित्य के निर्माताओं

मे जिनकी रचनाए पालिभाषा मे हैं उनमे मोग्गलिपुत्र तिष्य, नागसेन, बुद्धघोष, अनुरुद्ध, महानाम के नाम और कृतियों की बीच बीच मे याद करनी पड़ेगी। जिनकी रचनाए सस्कृत मे हैं उनम अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव, असग वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति, चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव, शान्तरक्षित और कमलशील के नामो और रचनाओं से हमे बहुत काम पड़ेगा क्योकि अश्वघोष को छोड़कर यह सबके सब महायान के ही लेखक हैं और हमे आगे महायान की ही चर्चा करनी है।

अश्वघोष कविता के बहाने ललित रूप मे धम की घूट पिलाने मे बहुत सफल रहे हैं। उन्होंने कहा है . मैंने मोक्ष के भावों से भरी हुई यह रचना कविता के बाने मे इसलिये की कि जिनका मन मोक्ष से और ही जगह रहता है वे भी इसमे रम सके। यह (दुनिया मे) रमाने के लिए नही, दुनिया (के भभ्भट) से शान्ति दिलाने के लिये है। यह काव्य है इसलिये इसमे कुछ दूसरी (श्रृगारादि) बाते भी हैं जो मोक्ष से बिल्कुल अलग की बाते हैं और वे (मोक्ष जैसी कड़ुई बात को) उस तरह मीठी बनाने के लिये हैं जैसे पीने की कड़ुई दवा मे शहद मिला देते हैं।—

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृति
श्रोतॄणा ग्रहणार्थं मन्यमनसा काव्योपचारात् कृता।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृत
पातु तिक्तमिवौषध मधुयुत हृद्य कथ स्यादिति ॥—सौन्दरानन्द १८।६४

अश्वघोष के बुद्धचरित और सौन्दरानन्द काव्यो मे बौद्धधर्म का जो रूप है वह बिल्कुल ही महायान का न होकर हीनयान का है और यही दो कृतिया अश्वघोष की प्राणभूत हैं। इनमे हीनयान का ही भाव सब जगह देखकर अश्वघोष को महायानी कहने की शायद जरूरत नहीं। अश्वघोष के नाम पर कुछ महायान से सबन्ध रखनेवाली रचनाए भी मिलती हैं। यह किसी दूसरे अश्वघोष की हैं। कदाचित् नाम की एकता के कारण दोनों को एक समझ लिया गया है।

आगम की चर्चा करते करते हम इतनी दूर आ गए। आगमों में विशेषकर महायान आगम—महायानियों के साम्प्रदायिक साहित्य तथा महायान के आचार्यों को, जिनके नामों को अभी याद किया है, कृतियों के सहारे अधिगम या उस साहित्य की भीतरी प्रवृत्तियों और भावनाओं को आगे चलकर हम देखने का जतन करेंगे। दूसरे आगमों मे भी जो महायान की सामग्री है उसका भी नि सकोचभाव से उपयोग होगा। स्थविरों के त्रिपिटक में बुद्धवंश, चरियापिटक, अपदान, जातक, तथा लोकोत्तरवादियों के महावस्तुअवदान में महायान की कहीं साफ और धुधली छाया है। यह सब हीनयान की महायान से कडी मिलानेवाली रचनाए हैं। इनसे भी जहां ज़रूरत पडेगी हम कितनी ही बाते लेकर देखेंगे।

महायान

लेखक
भदन्त शान्तिभिक्षु

१—बौद्धधर्म में तीन यान

क—साधारण सिद्धान्त

उपनिषद् के ऋषियों ने ज्ञान को मोक्ष का उपाय बताया है। 'उसको' जानने से ही मुक्ति हो सकती है। और 'वह' कौन ? वह समस्त ज्ञात पदार्थों से भिन्न है, समस्त दृश्यमान प्रकाश उसीके प्रकाश से प्रकाशित हैं। और इसी लिये आत्म-विह्वल होकर किसी ऋषि ने गाया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।
तमेव भान्तमनुभान्ति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

उस चमक के आगे सूरज, चाँद, तारे, और यह बिजलियां जब फीकी हैं तब आग की औक़ात ही क्या ? इन सब चमकनेवाले में उसकी चमक की झलक है, उसीकी चमक से यह सब चमक रहे हैं।

इस तरह की चमक के पीछे भूले रहनेवाले कितने ही ब्राह्मणों से बुद्ध की बातचीत हुई थी और बुद्ध इससे अपरिचित न थे पर उनका रास्ता लोगों को उस चमक के पीछे हैरान होने की बात नहीं बताता। बुद्ध ने सब की सुनी है पर माना वही है जो उन्हें जँचा है। बुद्ध चाहते थे लोग बहुश्रुत हों—सब तरह की बातों को सुने और जाने। थोड़ी जानकारी रखनेवाले के लिये उन्होंने कुछ कड़े शब्द का उपयोग किया है—

अप्पस्सुतायं पुरिसो बलिवद्दोव जीरति ।
मसानि तस्स वड्ढन्ति पञ्ञा तस्स न वड्ढति ॥

अल्पश्रुत—थोड़ा जाननेवाला—बैल की तरह ही बुढ़ा जाता है। उसका मांस तो बढ़ता है पर बुद्धि नहीं बढ़ती।

बुद्धिवादी के लिये बहुश्रुत होना बहुत ज़रूरी है पर तरह तरह की जानकारी इकट्ठा करने से ही काम नहीं चलता। अपने आपको बनाने के लिये कितनी ही बातें जीवन में डालनी पड़ती हैं। जीवन में अभ्यास करने की उन बातों को बोधिपाक्षिकधर्म कहा जाता है।

'बोधि' एक प्रकार का ज्ञान है पर यह ज्ञान न तो दुनिया का ही ज्ञान है और न दुनिया

से परे किसी ब्रह्म आदि का ज्ञान है। साधारणतया दुनिया का जो ज्ञान है उसे 'सांवृतज्ञान' या व्यावहारिक ज्ञान कहा जाता है। पर बोधि वह ज्ञान नहीं है क्योंकि वह दुनिया के साधारण व्यवहार में चालू नहीं है। वह दुनिया से परे का भी ज्ञान नहीं है क्योंकि उस ज्ञान का विषय दुनिया ही है। दुनिया से परे न जाकर—लोक से कहीं दूर न भागकर, दुनिया या लोक को एक खास तरह से समझना ही 'बोधि' है—बूझ है। बोधि को बहुत से संकेतों द्वारा कहा गया है। उन सकेतों को ध्यान से देखने पर बोधि का स्वरूप बहुत कुछ खुल जाता है। दो तरह के ज्ञान को बोधि कहा गया है · क्षय ज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान (अभिधर्मकोष)। यह दोनों शब्द बहुत-कुछ निषेधात्मक अर्थ बताते हैं। क्षय या नाश करना निषेध ही का नाम है। पर किसका क्षय ? क्षय की जानेवाली चीज़ें बहुत गिनी चुनी हैं पर उनको बहुत से संकेतों द्वारा कहा है। यहां सकेतों के झमट में पहले न पड़ उन चीज़ों की देख-भाल कर लेनी चाहिए। कुल छः चीज़ ही हैं जिन्हें क्षय करने को कहा गया है—

(१) राग—इस ससार में मनुष्य की जो तृष्णा है उसे राग कहते हैं। कामधातु के भीतर जितने लोक-लोकान्तर हैं उनके प्रति तृष्णा ही काम राग है। रूप धातु और अरूप धातु के प्रति जो तृष्णा है उसे भवराग कहते हैं। सरल शब्दों में कहें तो इस दुनिया के प्रति और इस दुनिया से बढ़कर किसी दूसरी आनन्द की दुनिया, स्वर्ग या मोक्ष या ब्रह्म से मिलन कर आनन्द भोगने की चाह सब कुछ राग है।

(२) प्रतिघ=द्वेष।

(३) मान—अपने आपको ऊँचा समझना। दूसरे शब्दों में कहें तो दूसरे को छोटा समझना।

(४) अविद्या—विद्या के अभाव का नाम अविद्या नहीं है किन्तु अविद्या और विद्या परस्पर विरोधी दो वस्तुओं का नाम है जैसे कि मित्र और शत्रु दो परस्पर विरोधी बातें है, न मित्र का अभाव शत्रु है और न शत्रु का अभाव मित्र (अभिधर्मा कोष ३।२८)। जिससे सभी बुराइया उत्पन्न होती हैं, जो सभी बुराइयों का बीज है वह अविद्या है। ज़रा भावात्मक ढंग से कहना हो तो 'मोह' शब्द से अविद्या के भाव को कहा जा सकता है। पर इतनी ही काफी नहीं है, इतने से अविद्या का पूरा भाव नहीं आता। वसुबन्धु ने "पूर्वक्लेशदशाविद्या" कहा है। अविद्या क्लेशों की उस दशा का नाम है जो कि पुरबले जन्म से हमारे पास आई है। इस व्याख्या से उन सबको सन्तोष हो सकता है जो पूर्व जन्म को मानते हैं। पर वह अविद्या है क्या ? यह बात परदे में ही छिपी रह जाती है। जो कुछ भी हो, वह अभावरूपा नहीं है। यदि अभावरूपा होती तो उसके क्षय की बात ही नहीं उठती।

(५) दृष्टि—किसी विशेष प्रकार की धारणा बना लेना दृष्टि है। बौद्ध ग्रन्थों में पाँच प्रचार की दृष्टियों का वणन मिलता है—

क—सत्कायदृष्टि='मैं हू' 'मेरा है' की दृष्टि।

ख—अन्तग्राह दृष्टि=नित्य या ध्रुव तथा उच्छेद या नाश की दृष्टि। किसी पदार्थ को नित्य-ध्रुव-अपरिवर्तनशील मानना अथवा सर्वथा नाश होनेवाला मानना, ये दो अन्त या किनारों को जो पकड़े रहते है, उनकी ऐसी दृष्टि 'अन्तग्राह'-दृष्टि कहलाती है।

ग—मिथ्यादृष्टि—पुण्य और पाप के फल को न मानना।

घ—दृष्टिपरामर्श—मेरा मत या सिद्धान्त सत्य है, दूसरों का असत्य है।

ङ—शीलव्रतपरामर्श—अहेतु को हेतु मानना। जैसे ब्रह्मा आदि को जगत् का बनानेवाला मानना। अमार्ग को मार्ग मानना। जैसे गङ्गा या दूसरे तीर्थों में स्नानादि से स्वर्ग या मुक्ति मानना। अग्नि में होम, पशु बलिदान आदि को धर्म समझना।

(६) विचिकित्सा—सन्देह, संशय।

इन छ. बातों को कहीं सयोजन, कहीं बन्धन, कहीं अनुशय, कहीं ओघ और कहीं योग कहा है। इनके क्षय का ज्ञान बोधि है।

जिस ज्ञान से इनका क्षय होता है उसे धर्मज्ञान कहते हैं। कामधातु के विषय में आर्यसत्यों को जानना धर्मज्ञान है। कामधातु के विषय में यह समझना कि उसमें दु ख है और उस दु.ख का कारण है। उस दुःख का निरोध करना है—उसे रोकना है और उसके निरोध का मार्ग भी है। इस क्षयज्ञान या धर्मज्ञान को 'बोधि' कहते हैं।

क्षयज्ञान या धर्मज्ञान के अतिरिक्त जिस दूसरे ज्ञान को बोधि कहते हैं वह है अनुत्पादज्ञान। कामधातु मे पीड़ित और दु खी लोग इस ख्याल से कि उन्हे दूसरी दुनिया में सुख मिलेगा तरह तरह के अनुष्ठान करते हैं तथा उनमें तृष्णा बनी रहती है कि वे किसी दूसरे लोक में उत्पन्न होंगे। दूसरे लोकों में पैदा होने या उत्पाद के न रहने का भाव ही अनुत्पाद है। अनुत्पाद के लिये जिस ज्ञान की ज़रूरत पड़ती है उसे अन्वयज्ञान कहते हैं। कामधातु के विषय में आर्यसत्यों का ज्ञान जैसे धर्मज्ञान कहलाता है वैसे ही रूपधातु और अरूपधातु के विषय में आर्यसत्यों का ज्ञान अन्वयज्ञान कहलाता है। अनुत्पादज्ञान या अन्वयज्ञान भी बोधि है।

इतने से बोधि का बहुत-कुछ मोटे तौर पर रूप समझ में आजाता है। कामधातु, रूपधातु, और अरूपधातु को बुद्ध ने दु ख से जुड़ा देखा है, फलत उनके भीतर रमने और मौज उड़ाने की बात उनके ख्याल से उस आदमी जैसी है जो आग लगे घर में हँस और खेल रहा हो। दीपक की ओर से आँखें मूँद, अँधेरे में भटक रहा हो—

को नु हासो किमानन्दो निच्च पज्जलिते सति ।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीप न गवेस्सथ ॥

खैर, दुनिया में रमने की बात जहाँ बुद्धने पसन्द नहीं की वहा दुनिया से भागने के पक्षमें भी वे न थे। आखिर लोग भाग कर जा कहा सकते हैं ? जङ्गल, पहाड़, बागबीचे, पेड़, और चैत्यों की शरण लेनेवालों, भयसे घबराए लोगों को देख कर बुद्ध ने कहा था कि यह उत्तम शरण नहीं है, इससे दु ख दूर न होगा। दु ख दूर करने के लिये इस दुनिया मे ही बहुत कुछ करना पड़ेगा। दुनिया में रहते जो बातें करने को हैं उन्हे बोधिपाक्षिक धर्म कहा गया है।

बोधिपाक्षक धर्म सैंतीस कहे गए है पर वसुबन्धु ने उतनी बड़ी सख्या को दस के भीतर भीतर रक्खा है। उनके ख्याल से मूल बातें कुल दस हैं सिर्फ कहने में विस्तार कर देने से उनकी सख्या सैंतीस हो जाती हैं। पहले ज़रा विस्तार के साथ सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों को देखकर फिर उनका दस के भीतर जिस तरह अन्तर्भाव होता है, हम आगे चलकर देखेंगे।

सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों में चार स्मृत्युपस्थान बहुत मुख्य हैं। अनुरुद्ध ने स्मृति के अन्तर्गत स्मृत्युपस्थानों को समझा है (अभिधम्मत्थ सगह ७'३४)। वसुबन्धु ने स्मृत्युपस्थानों को प्रज्ञा में गिना है। "प्रज्ञा हि स्मृत्युपस्थिति" (अभिधर्मकोश ६'६८)। वसुबन्धु की दृष्टि ज्यादा पैनी है। स्मृत्युपस्थान स्मृति रूप नहीं हैं प्रत्युत स्मृति द्वारा उपस्थित प्रज्ञा या ज्ञान हैं। शरीर, मन, अनुभूतियाँ तथा ससार के आभ्यन्तरिक और बाह्य पदार्थों को बुद्धिवादी जो कुछ समझता है उसको बारम्बार स्मृति द्वारा उपस्थित रखना, उन्हे न भूलना—बस, इसीका नाम स्मृति का उपस्थान है। इसमें इस तरह दो वस्तुए हुई : एक तो स्मृति और दूसरा स्मृति का विषय। यदि विषय को स्मृति से अलग कर दें तो विषय-रहित स्मृति का कुछ भी मूल्य न रहेगा और कदाचित् इसीलिये विषय को प्रधान मानकर वसुबन्धु ने स्मृत्युपस्थानों को प्रज्ञा कहा है। अनुरुद्ध ने विषय को गौण मानकर स्मृत्युपस्थानों को स्मृति रूप कहा है। महासतिपट्ठान सुत्त में (बुद्धचर्या पृष्ठ ११८) इनका बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। वहा बतलाया गया है काम, वेदना (=अनुभूति), चित्त (=मन) और धर्म (=मानसिक और भौतिक जगत) को किस रूप से समझना चाहिए। विस्तृत सूत्र का सार यों है—

(१) बुद्धवादी काय या शरीर को एक समूची चीज़ नहीं समझता बल्कि बहुत-सी वस्तुओं और घटनाओं का समूह समझकर उन्हें अलग अलग कर विचार करता है। मोटे तौर पर वह यों देखता है—

क—सांस लेना छोड़ना (=आनापान) शरीर के मुख्य काम हैं और जीवन के चिह्न

हैं। वह खूब सावधानी से सांस लेता और छोड़ता है, हमेशा ख्याल रखता है कि शरीर में ह्रास और विकास किस तरह होता रहता है।

ख—चलने—खड़े होने—बैठने—सोने (=ईर्यापथ) में सावधान रहता है। हमेशा ख्याल रखता है..

ग—शरीर के बाकी दूसरे व्यापारों में—आने-जाने, देखने, समेटने-फैलाने, खाने-पीने, कपड़ा लत्ता पहनने, चलने-ठहरने, बैठने, सोने, बोलने, और मौन रहने आदि की सभी दशाओं में जागरूक (=सम्प्रजन्य) भाव से रहता है। हमेशा ..।

घ—शरीर को खून, चरबी, पसीना, मल-मूत्रादि से युक्त देखता (=प्रतिकूलमनसिकार) है। हमेशा ..।

ङ—शरीर को पृथिवी, जल, अग्नि, वायु धातुओं की भौतिक घटना (=धातुमनसिकार) समझता है। हमेशा.. ।

च—शरीर को एक दिन सड़ने गलनेवाला समझता है। हमेशा ।

यों शरीर को देखते हुए उसके प्रति लालची नहीं होता। दुनिया में जोड़ू-बटोरू नहीं होता।

(२) वेदना अर्थात् सुख या दु ख जो कुछ आ पड़े सावधान रहता है। सुख या दु:ख की अनुभूतियां भोग्य पदार्थों के भाव या अभाव के कारण हैं, इसे ख्याल करता रहता है। लालची नहीं होता। जोड़्-बोटरू नहीं होता।

(३) चित्त मे कब कौन भ व उत्पन्न होता है, क्यों उत्पन्न होता है, इसका सदा ख्याल करता रहता है। राग, द्वेष, मोह, द्रोह, कामुकता, उद्वेग, खेद, आलस्य, सन्देह आदि जब जो भाव उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते है उन्हे सावधान होकर देखता रहता है। अपने को उनके बीच खो नहीं देता। लालची नहीं होता, जोड़्-बोटरू नहीं होता।

(४) धर्म अर्थात् मानसिक तथा भौतिक जगत् को विश्लेषण कर उन्हें साधारणतया यों देखता है—

क—मानसिक जगत् मे पाच भाव बड़ी गड़बड़ मचाते रहते हैं। पहला है कामच्छन्द या कामुकता का भाव। दूसरा है व्यापाद या द्रोह। इनमें पहला राग से होता है और दूसरा द्वेष से। महायान सूत्रों (शिक्षासमुच्चय पृष्ठ १६४) में एक जगह कहा गया है कि बोधिसत्त्व पहाड़ के बराबर राग से नहीं डरता पर तिल भर भी द्वेष से बहुत डरता है। राग के कारण तो आदमी आदमी को अपनाता ही है पर द्वेष के कारण तो आदमी आदमी का सहार करता है। तीसरा है स्त्यानमिद्ध अर्थात् मन की अलसता। चौथा है औद्धत्य—कौकृत्य

अर्थात् उद्वेग-खेद। पांचवा है विचिकित्सा या सन्देह। इन सब भावों का किस तरह विकास और ह्रास होता है, इसे देखता रहता है। लालची नहीं होता। जोड़्-बोटरू नहीं होता।

ख—भीतरी और बाहरी जगत् को स्कन्ध अर्थात् बहुत सी मानसिक या भौतिक घटनाओं का समूह समझना है। सभी भीतरी और बाहरी जगत् को मोटे तौर पर पांच स्कन्धों में बाँट लेता है। १—रूप अर्थात् भौतिक जगत्, २—वेदना अर्थात् सुख दुःख की अनुभूतियां, ३—सञ्ज्ञा अर्थात् विशेष ज्ञान, ४—सस्कार अर्थात् वेदना और सञ्ज्ञा को छोड़कर शेष मानसिक भाव, ५—चित्त या विज्ञान या मन। इस तरह पांच भागों में विभक्त कर उनके ह्रास और विकास को देखता रहता है। लालची नहीं होता, जोड़्-बटोरू नहीं होता।

ग—आयतन अर्थात् इन्द्रियों तथा उनके विषयों और उन दोनों के प्रत्यय या कारण सामग्री के कारण जो ज्ञान होता है, उनके प्रति जागरूक रहता है। उनसे उत्पन्न संयोजन अर्थात् राग या तृष्णा को देखता रहता है। लालची नहीं होता, जोड़्-बटोरू नहीं होता।

आयतन या इन्द्रियां छः हैं, उनके विषय भी छः हैं—

इन्द्रियां	विषय
चक्षु	रूप
श्रोत	शब्द
घ्राण	गन्ध
जिह्वा	रस
काय	स्प्रष्टव्य (=स्पर्श)
मन	धर्म (=मानसिक भाव सुख, दुःख, ज्ञान आदि)

घ—बोध्यंग अर्थात् बोधि में सहायक बातों का सावधानी से मनन करता रहता है, अभ्यास करता रहता है। यदि उनका अपने में अभाव देखता है तो उन्हें पाने का जतन करता है। उनकी उत्पत्ति और विकास एवं पूर्णता पर पूरा ध्यान रखता है। उनके ह्रास और विकास को देखता रहता है। लालची नहीं होता। जोड़्-बटोरू नहीं होता। सात बातें बोधि में सहायक होती हैं—

१. स्मृति, २. धर्मविचय (=धर्मान्वेषण जो वसुबन्धु के हिसाब से एक तरह की प्रज्ञा है), ३. वीर्य (=उद्योग), ४. प्रीति (=प्रसन्न रहना, हर्षित रहना), ५. प्रश्रब्धि (=शान्ति), ६. समाधि (=एकाग्रता), ७. उपेक्षा (=उदासीनता सुख दुःखादि के प्रति)।

ङ—बुद्धिवादी चार आर्य-सत्यों अर्थात् दुःख, दुःख समुदय (=दुख के कारण), दुःख-

निरोध और दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा (=दुःख रोकने के रास्ते) के विषय में सावधान रहता है, उन्हे ठीक ठीक जानने का प्रयत्न करता है।

१ दु ख क्या है ? उत्पन्न होना, बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, विलाप करना, शरीर से तकलीफ पाना, मनसे तकलीफ पाना, परेशान होना, अप्रियों से मिलना, प्रियों से बिछुड़ना, जो चाहना उसे न पाना—ये सब दु ख ही दु ख हैं। मनुष्य नहीं चाहता कि वह पैदा हो, बूढा हो, मरे, अफसोस करे, रोए-कलपे, शरीर और मन से तकलीफें झेले, परेशान हो, अप्रियों से मिले, प्रियों से बिछुड़े तथा जो कुछ चाहे वह उसे न मिले। पर उसके न चाहने भर से ही वह दु खों से बच नहीं सकता।

२. दु.ख-समुदय क्या है? मनुष्य को जहाँ सुख मिलता है वहा उसकी चाह या तृष्णा होती है। यह तृष्णा ही दु.ख का कारण है।

३ दु ख-निरोध क्या है? तृष्णा को रोकना—दूर करना ही दु·ख-निरोध है।

४. दु ख-निरोधगामिनी प्रतिपदा क्या है? आर्य अष्टांगिक मार्ग ही दु ख-निरोधगामिनी प्रतिपदा है। आर्य या श्रेष्ठ मार्ग के आठ अग यह हैं—

अ—सम्यग्दृष्टि—चार आर्य सत्यों का ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है। जो वसुबन्धु के हिसाब से प्रज्ञा है।

आ—सम्यक् सकल्प—नैष्काम्य संकल्प (=काम अर्थात् राग के परित्याग का सकल्प), अव्यापाद अर्थात् अद्रोह का सकल्प, और अविहिसा (=अहिंसा) का सकल्प ही सम्यक् सकल्प है।

इ—सम्यग्वाचा—असत्य, पिशुनता, कठोरता, और बेकार की गपशप (=सप्रलाप) छोड़कर बात बोलना सम्यग्वाचा है।

ई—सम्यक्कर्मान्त—प्राणिबध, चोरी, और काममिथ्याचार (=अवैध मैथुन) को छोड़ कर काम करना सम्यक् कर्मान्त है।

उ—सम्यग्व्यायाम (=ठीक उद्योग):

१ पाप न होने देने की रुचि उत्पन्न करना।

२. हो चुके पाप को दुबारा न होने देना।

३ पुण्य करने की रुचि उत्पन्न करना।

४. किए पुण्य को स्थिर करना और बार बार करने की रुचि उत्पन्न करना।

इन्हीं चारों को सम्यक् प्रधान और सम्यक् प्रहाण भी कहते हैं।

ऊ—सम्यक् समाधि—काम (=राग या आसक्ति) छोड़कर मन को शान्त करने का नाम

समाधि है। अनासक्ति उत्पन्न होने पर भी मन के सभी क्षोभ शान्त नहीं होते; उन्हे शान्त करने मे कुछ देर लगती है। आसक्ति-रहित होने पर मन में काम भावनाएं नहीं जातीं पर ये चार भाव फिर भी बने रहते हैं—

१—वितर्क

२—विचार

३—क- प्रीत, ख- सुख

इन चारों में से पहले को ध्यान की दूसरी सीढ़ी मे दूर कर दिया जा सकता है। दूसरे को तीसरी सीढ़ी में, तीसरे के दोनों भावों को चौथी सीढ़ी में दूर किया जा सकता है। निष्कामता की यही पराकाष्ठा है जिसे उपेक्षा कहते हैं, जिसमे किसी प्रकार का भी मानसिक विक्षोभ नहीं रह जाता। इन चार सीढ़ियों को चार ध्यान कहते हैं।

इतने से स्मृत्युपस्थानों का स्वरूप बहुत कुछ समझ में आ जाता है। बुद्धिवादी जिस दृष्टि से काम, वेदना, चित्त और धर्मों का विश्लेषण करता है, वह दु ख-बोध नहीं है। इनमें सब जगह लौकिक दृष्टि को प्रधानता दी है। दुःख का कारण तृष्णा है। तृष्णा के कारण जब एक व्यक्ति अधिक सग्रह कर लेता है तो दूसरा ग़रीब हो जाता है और ग़रीबी के कारण फिर चोरी-हत्या आदि सब कुछ होता रहता है। पारपरिक लड़ाई झगड़े तथा युद्ध होते रहते हैं। इन सब बातों का अगञ्ञसुत्त, चूलदुक्खक्खन्धसुत्त, महादुक्खक्खन्धसुत्त और चक्रवर्ती सीहनादसुत्त में विस्तार से वर्णन है। इनसे यह बात प्रकट हो जाती है कि बुद्ध दुनिया के दु ख का कारण बहुत कुछ समाज के दूषित सगठन को समझते हैं, फिर भी यह समझना ठीक न होगा कि उन्होंने दुनिया के दु·ख की केवल भौतिक व्याख्या की है। दुनिया के अधिकांश दुःख की उन्होंने भौतिक व्याख्या की है और समाज के दूषित सगठन के कारण ही वे समाज के भीतर दु ख का अस्तित्व समझते हैं। पर आध्यात्मिक या अभौतिक व्याख्या भी साथ में है। दुःख के स्वरूप में, जैसा हमने ऊपर देखा है, "उत्पन्न होना" भी दुक्ख कहा गया है। यदि मनुष्य उत्पन्न न होता तो सचमुच दुःख न होता पर यह तो उसके वश की बात नहीं है। भौतिकवादी उत्पादनिरोध के लिये भौतिक उपाय बताएगा, सन्ततिनिरोध के साधनों को प्रस्तुत करेगा। पर अभौतिकवादी के ख्याल से, जिसका जन्म होता है उसका राग ही उसमे कारण है। मनुष्य मरते हैं पर ससार के प्रति उनका राग बना रहता है इसीलिये वे जन्म लेते रहते हैं। यदि राग पूरा पूरा दूर कर दिया जाए तो फिर जन्म नहीं लेना पड़ेगा। और जब जन्म नहीं तब दुःख भी नहीं रहेगा। जन्मरूपी दु ख को दूर करने का यही उपाय है। पर जन्म के बाद मरने तक जो दुःख होता है उसका उपाय बहुत कुछ भौतिक है। उदाहरण के लिये, भूख और प्यास दु.ख

ही हैं। भूख के दु ख और प्यास के दु ख को दूर करने के लिये अन्न और पानी चाहिए। हाँ, अध्यात्मवादी अपनी आध्यात्मिक व्याख्या इनके साथ ज़रूर जोड़ेगा और वह यह है कि अन्न-पान को तृष्णा रहित होकर सेवन करना चाहिए। पर वह भी भौतिक उपाय से अलग नहीं रह सकता। इस तरह जीवन में शरीर के दु खों को दूर करने के लिये भौतिक सामग्री के बिना काम नहीं चल सकता। मानसिक दु खों के कारण भी दुनिया मे बहुत कुछ भौतिक होते हैं। वियोग में तड़पना, किसी चीज़ के खोजाने का अफसोस, किसी चीज़ के पाने का बहुत जतन करके भी न पाने की असफलता आदि का सम्बन्ध भौतिक पदार्थों से ही होता है। इस तरह ससार के दु ख दूर करने के उपाय बहुत कुछ भौतिक हैं और बुद्ध उन भौतिक उपायों से पूर्णतया सहमत हैं। यदि ऐसा न होता तो वे ग़रीबी और अमीरी की भौतिक व्याख्या न करते (अग्गञ्ञसुत्त) और कह देते कि दु ख पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। इस तरह बहुत कुछ भौतिक दृष्टि से विचार किया गया है। पर जन्मरूपी दु ख को दूर करने की कोई भी व्याख्या भौतिक नहीं है। जन्म तृष्णा के कारण होता है और तृष्णा के निरोध से जन्म का निरोध हो जाएगा : यही जन्मरूपी दु ख को दूर करने का उपाय बताया गया है। इस अध्यात्मिक व्याख्या को समझना कठिन है। मनुष्य तृष्णा के कारण जन्म लेता है और तृष्णा वहीं हो सकती है जहां सुख हो। दु·ख के प्रति तो जड़बुद्धि को भी तृष्णा नहीं होती। इस संसार मे दु·ख भोगनेवाले ही बहुत हैं। उन दुःख-भोगियों को दु ख देनेवाले समाज में—ससार में—रहने की इच्छा या तृष्णा ही फिर पैदा होने को मजबूर करती है, यह समझना बहुत कुछ कठिन है। कम से कम औसत बुद्धि का आदमी बिल्कुल नहीं समझ सकता। रोगों से सड़ते और भूख से मरते हुए लोगों मे फिर फिर रोग भुगतने और भूखे रहकर तड़पने के लिये दुनिया में आने की तृष्णा भी हो सकती है, ऐसा नहीं समझा जा सकता। हां, जिन्हें दुनिया में मौज रहती है वे यहां मौज उड़ाने के लिये बार बार आना चाहे तो ठीक हो सकता है और शायद वे जन्म को दु ख नहीं समझ सकते। जो भी हो, जन्म को दु खरूपता तो समझ में आ जाती है पर उसके दूर करने का उपाय साधारण जन के लिये दु खबोध है। प्राणी का जन्म उसके पूर्वजन्म की तृष्णा के कारण होता है, यह समझ में नहीं आता। प्राणी का जन्म उसके मा-बाप की तृष्णा से होना तो समझ में आ जाता है और उस तृष्णा को दूर करना, यदि सम्भव नहीं, तो कम करके जन्म की सख्या कम की जा सकती है। और भौतिक साधनों से जन्म भी बिल्कुल रोका जा सकता है तथा मनुष्य जाति के अस्तित्व को ही नहीं दूसरे प्राणियों के अस्तित्व को भी सर्वथा समाप्त किया जा सकता है। इस तरह भौतिक साधनों से जन्म रोक देना, मनुष्य के अस्तित्व को मिटा देना सम्भव है पर तृष्णा-निरोध के द्वारा जन्म को मिटा देना कदाचित् कोरी कल्पना

ही कल्पना है। इसका व्यावहारिक मूल्य बहुत कम है। दूसरी बात यह कि जन्म हो ही नहीं, यह तो आज भौतिक साधनों से किया जा सकता है और पूर्व युग में भी किया जा सकता था। ठीक यही बात आध्यात्मिक साधनों से करने मे उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। ब्राह्मणों के सभी दार्शनिक सम्प्रदायों, जैनों और बौद्धों मे धर्म का उच्चतम आदर्श इस दुनिया में जन्म न होने देना ही है। इसे मोक्ष या निर्वाण जैसे शब्दों द्वारा कहा गया है पर ससार की दृष्टि से उनका रूप जन्माभाव ही है। इतना ही नहीं, इस तरह की मुक्ति के निमित्त स्त्री-सहवास से विरत रहने का व्रत भी बताया गया है। सचमुच यदि सहवास के परित्याग का कठोर व्रत इस दुनिया के हित के लिये न होकर दुनिया में मनुष्य का जन्म न होने देने के निमित्त है, तो बहुत साफ है कि इसका अभिप्राय दुनिया को उजाड़ देना है और उसका मूल्य संसार के लिये नहीं के बराबर है। मेरा अनुमान है कि धर्म के इस जन्म न होने देनेवाले आदर्श की दुर्बलता पर पुराने लोगों का भी ध्यान गया था। महाभारत मे जरत्कारु महर्षि की एक कहानी है। जरत्कारु ने ब्रह्मचर्यव्रत लिया था। घूमते-घामते उन्हे एक बार कुछ ऋषि दिखाई पड़े जो उल्टा होकर गढ़े में तिनके के सहारे लटके हुए थे तथा तिनके की जड़ें वहां रहनेवाले चूहे ने कुतरकर खोखली कर दी थीं। जरत्कारु ने उनसे पूछा कि आप लोग कौन हैं जो इस तरह लटके दुःख पा रहे हैं। उन्होंने उत्तर दिया—

> यायावरा नाम वयं ऋषय शंसितव्रता.।
> सन्तानस्य क्षयाद् ब्रह्मन् अधो गच्छाम मेदिनीम् ॥
> अस्माक सन्ततिस्त्वेको जरत्कारुरिति स्मृत·।
> मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एक समास्थित· ॥
> न स पुत्राञ्जनयितु दारान्मूढश्चिकीर्षति।
> तेन लम्बामहे गर्ते सन्तानस्य क्षयादिह ॥—आदिपर्व, अध्याय १३।१७-१९

हे ब्रह्मन्, हमारा नाम यायावर है, व्रतों के पालन में प्रशंसित ऋषि हैं। सन्तान के न होने से नीचे धरती की ओर गिर रहे हैं। हम कमनसीबों का एक अभागा पुत्र जरत्कारु है जो कोरे तप में लगा है। पुत्र उत्पन्न करने के लिये वह स्त्री नहीं करना चाहता और इसीलिये सन्तान के क्षय होने से हम लटक रहे हैं।

जरत्कारु को यह देख बहुत दुःख हुआ। उनने अपने पितरों से पूछा कि मैं आपके लिये अब क्या करू। उन्होंने सन्तान उत्पन्न करने को कहा और बताया कि पुत्रवान् लोग जिस गति को प्राप्त करते हैं वह गति तप और धर्माचरण के फल से नहीं प्राप्त होती—

न हि धर्मफलैस्तात न तपोभि सुसञ्चितैः।
ता गति प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति वै ॥—आदिपर्व, अध्याय १२।२४

पुत्रलाभ को सब प्रकार के धर्म-कर्म पर तरजीह देना सचपुच उप सिद्धान्त का नरम ढग से खण्डन है जो घरबारी जीवन को नि सार बताता है। बस इतना ही इस कहानी का भाव है जो बहुत साफ है। मुक्ति मोक्ष-निर्वाण या दुनिया में जन्म न होने देने के लिये किए गए ब्रह्मचर्य पर बड़े सुन्दर ढंग से आक्रमण किया गया है। वस्तुतः बहुत प्राचीन युग में जन्म को दु ख नहीं समझा जाता था और न पहले ससार मे उतना दु ख था जितना कि बुद्ध के समय में हो गया था। उस समय दु ख की उपरोक्त अभौतिक व्याख्या भी न थी। उपनिषदों के युग में दु ख और दु ख के कारण की वह व्याख्या हुई अथवा किसी दूसरे निकास से वह व्याख्या उनमें आई जो उस समय के श्रमणों में भी थी। परवर्ती हिन्दूधर्म में वह व्याख्या बनी रही और आज भी बनी हुई है। उस व्याख्या का विरोध करने के लिये ही जग्त्कारु की कहानी अस्तित्व में आई पर इस तरह का विरोध कुछ कारगर न हुआ। दुनिया की उलझने इतनी थीं कि उन्हें सुलझता न देख दु ख और उसके कारण की ऐसी अभौतिक व्याख्या की गई कि लोग अपने दुःख की गाँठें सुलझाने और तोड़ने की अपेक्षा उन्हीं मे उलझते रहने के आदी हो गए। ब्राह्मणों, बौद्धों और जैनों ने पुराने प्रवृत्ति मार्ग की एक स्वर से बुराई की। प्रवृत्ति मार्ग के प्रतिपादक वेदों की परवर्ती ब्राह्मणों ने निन्दा की (गीता)। बौद्धों ने उसे मिथ्यादृष्टि कहकर दुत्कारा। ब्राह्मण-धम्मियसुत्त (सुत्तनिपात) मे प्राचीन ब्राह्मणों के प्रवृत्तिमार्ग का जो वर्णन है उसकी दो गाथाए यों हैं—

ब्राह्मणा सेहि धम्मेहि किच्चाकिच्चेसु उस्सुका।
याव लोके अवत्ति सु सुखमेधित्थय पजा ॥
अठ्ठचत्तालीस वस्सानि ब्रह्मचरियं चरिसुते।
सप्पियेनेव सवासं सगन्त्वा समरोचयु ॥

अर्थात् ब्राह्मण अपने धर्मों के साथ कतव्य और अकर्तव्य (के विवेचन) में उत्सुक जब तक लोक में रहे, प्रजाए सुख पाती रहीं। अड़तालीस बरस ब्रह्मचर्य से रहते थे। उन्हे प्रेमवाली स्त्री के साथ साथ रहना पसन्द था।

इस जगह अठ्ठकथा में बड़ी रोचक व्याख्या है। "(प्रश्न :) इतने दिन ब्रह्मचर्य का पालन कर वे क्यों स्त्री ढूढ़ते थे? (उत्तर.) उनमें यह मिथ्या दृष्टि रहती थी कि जो पुत्र नहीं पैदा करता, कुलघाती होता है और नरक को जाता है।" अठ्ठकथा ने जो बात कही है उसीसे

मिलती जुलती बात जरत्कारु की कहानी में है। जन्म की दु खरूपता और उसके उपाय के अतिरिक्त स्मृत्युपस्थानों से जो दूसरी बात प्रतिध्वनित होती है वह है रागात्मक वृत्ति को बिल्कुल कुचल देना। इसमें दूसरे ब्राह्मण और अब्राह्मण दर्शन बौद्धधर्म के साथ साथ हैं। इस रागात्मक वृत्ति के कुचलने की प्रतिक्रिया ही बाद मे पौराणिक धर्म और महायान में प्रकट हुई जिसमे राग को भक्ति के रूप मे मानवजीवन के अन्दर प्रतिष्ठित किया गया। इसकी चर्चा हम आगे चलकर विस्तार के साथ करेंगे।

चार स्मृत्युपस्थानों के अतिरिक्त सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों मे दूसरे धर्म यों हैं—
चार सम्यक् प्रधान (दे० पीछे सम्यग्व्यायाम)
चार ऋद्धिपाद—१—छन्द, २—वीर्य, ३—चित्त, और ४—मीमांसा (=वीमंसा, प्रज्ञा)
पाँच इन्द्रिय—१—श्रद्धा, २—वीर्य, ३—स्मृति, ४—समाधि, और ५—प्रज्ञा।
पाँच बल—१—श्रद्धा २—वीर्य, ३—स्मृति, ४—समाधि, और ५—प्रज्ञा।
सात बोध्यंग—(दे० पीछे पृष्ठ—६)
आठ मार्गाङ्ग—(दे० पीछे पृष्ठ—७)

वसुबन्धु ने ऋद्धिपादों का समाधि के भीतर अन्तर्भाव किया है। ऋद्धि (=लोकोत्तर या चमत्कार करने की शक्ति) उत्पन्न करने की इच्छा का नाम छन्द है। उसके लिये किए जानेवाले उद्योग का नाम वीर्य है। चित्त या मन उसका आधार है और उसके लिये सहायता देनेवाली विवेचना-बुद्धि का नाम मीमांसा है। इन चारों निमित्तों से समाधि प्राप्ति हो जाने पर वह समाधि ऋद्धि में सहायक हुआ करती है। स्मृत्युपस्थान के प्रसंग मे और सभी बोधिपाक्षिक धर्मों के बारे में कहा गया है। केवल श्रद्धा के बारे में ज़िक्र नहीं हुआ है। श्रद्धा एक प्रकार का विश्वास है जिसके कारण मनुष्य किसी कार्य में लगता है। पृथिवी के भीतर पानी होता है। इस विश्वास के बल पर लोग ज़रूरत पड़ने पर कुआँ खोदते है। सभी प्रकार के कार्य करने मे श्रद्धा बहुत अपेक्षित है। धर्ममार्ग में श्रद्धा आदि पाँच बातों की प्रधानता रहती है, उनकी स्थिरता होने से बल प्राप्त होता है। प्रधानता के कारण ही उन्हे इन्द्रिय कहा जाता है और स्थिरता के कारण ही उन्हें बल कहा जाता है—

"प्राधान्यादिन्द्रियमिति स्थिरत्वाद् बलमित्यतः।"—सौन्दरनन्द १२।३७

इन सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों के भीतर जितनी बातें बताई गई हैं वे सैंतीस नहीं हैं। वसुबन्धु के अनुसार वे सिर्फ दस हैं। अनुरुद्ध के हिसाब से वे चौदह हैं—

बोधिपाक्षिक धर्मों का वर्गीकरण

वसुबन्धु का वर्गीकरण

1—श्रद्धा=इन्द्रिय, बल।

2—वीर्य=इन्द्रिय, बल, सम्यक् प्रधान, बोध्यग वीर्य, सम्यक् व्यायाय।

3—स्मृति=इन्द्रिय, बल, बोध्यगस्मृति, मार्गाग सम्यक् स्मृति।

4—समाधि=इन्द्रिय, बल, ऋद्धिपाद (=छन्द, वीर्य, चित्त, मीमांसा) सम्बोध्यग समाधि, मार्गाग सम्यक् स्मृति।

5—प्रज्ञा=इन्द्रिय, बल, बोध्यग धर्मविचय, मार्गाग सम्यक् दृष्टि, चार स्मृत्युपस्थान।

6—प्रीति=सम्बोध्यग।

7—उपेक्षा=सम्बोध्यग।

8—प्रश्रब्धि=सम्बोध्यग।

9—शील=सम्यग्वाचा, सम्यक्कर्मान्त, सम्यक् आजीव।

10—सकल्प=मार्गाग

वसुबन्धु और अनुरुद्ध की समानता और असमानता

1—वसुबन्धु की तरह

2—वसुबन्धु की तरह पर वीर्य ऋद्धिपाद अधिक

3—वसुबन्धु की तरह पर चार स्मृत्युपस्थान अधिक

4—वसुबन्धु की तरह पर ऋद्धिपाद शामिल नहीं।

5—वसुबन्धु की तरह पर चार स्मृत्युपस्थान शामिल नहीं, और मीमांसा-ऋद्धिपाद शामिल।

6—वसुबन्धु की तरह

7—वसुबन्धु की तरह

8—वसुबन्धु की तरह

9=(9, 10, 11)—वसुबन्धु की तरह। पर वसुबन्धु इन्हे एक शील कह-कर गिनते हैं और अनुरुद्ध तीन अलग अलग गिनते हैं।

10=(12) वसुबन्धु की तरह।

(13) छन्द— } वसुबन्धु के हिसाब से समाधि में अन्तर्भाव
(14) चित्त— }

इन्हीं कुछ गिनी-चुनी बातों का बौद्धों की धर्मसाधना में स्थान है। बौद्धों के हर एक सम्प्रदाय के लिये, हर एक शाखा के लिये इनका एक समान महत्त्व है।

ख—तीन यानों की परस्पर विशेषताएं और उनका विकास

तीनों यानों की साधनाओं में जो परस्पर विशेषताएँ हैं उनका वसुबन्धु ने अपने बोधिचित्तोत्पाद में ज़िक्र किया है। हीनयान में श्रावकयान की साधना चार आर्यसत्यों के साक्षात्कार की साधना है। प्रत्येक बुद्धयान की साधना प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कार की साधना है। महायान या सम्यक् सम्बुद्धयान की साधना ब्रह्मविहारभावना और पारमिताओं के अभ्यास की साधना है।

चार आर्यसत्यों के साक्षात्कार से अर्हत्पद प्राप्त होता है। चूंकि आर्यसत्यों के शास्त्र या शिक्षक बुद्ध होते हैं और उनसे सुनकर ही दूसरे लोग उनका साक्षात्कार कर सकते हैं इसीलिये इन लोगों का यान (=अक्षरार्थ, जिससे जाया जाए, रथ आदि) या रास्ता श्रावकयान अर्थात् सुनकर चलनेवालों का रास्ता है।

कारण के होने पर कार्य होता है, इसके होने पर यह होता है ('अस्मिन् सतीद भवति'), इस नियम के अनुसार जो दु ख के कारण तक पहुँच जाता है और उस कारण को रोककर अपने दु ख को रोक देता है वह प्रत्येक बुद्ध अर्थात् अपने आप बोध कर लेनेवाला कहलाता है। कार्यकारण के सिद्धान्त का नाम ही प्रतीत्य-समुत्पाद है। प्रतीत्य-समुत्पाद का अक्षरार्थ है—प्रत्यय से—बीतने से—उत्पाद—उत्पत्ति का होना। हर एक उत्पाद का कोई न कोई प्रत्यय होता है। प्रत्यय से मतलब सिर्फ़ कारण या हेतु से ही नहीं है (दर्शनदिग्दर्शन, पृष्ठ ५१२) प्रत्युत कार्य से पूर्व की उस सब घटना से है जिसके बीतने पर कार्य का उदय होता है। इस तरह उत्पाद मात्र का प्रत्यय ठीक प्रत्यय या बीतनेवाली या बदल जानेवाली चीज़ है। भाव यह है जो कुछ उत्पन्न होता है वह प्रत्यय या बदलनेवाली चीज़ से ही होता है। इसी सिद्धान्त का सरल रूप चार आर्य सत्य हैं। बीतनेवाले—बदलनेवाले—प्रत्यय से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। हमारा दु:ख भी उसी तरह के प्रत्ययों से उत्पन्न होता है। यदि दुःख की उपमा अकुर से दें तो उसके बदलनेवाले प्रत्यय की उपमा बीज है। बीज को अकुरित न होने देने के लिये लोग उसे भून डालते हैं। दुःख जिन प्रत्ययों से होता है उन्हें भी भून डालने की ही ज़रूरत है। बुद्ध के हिसाब से दु ख का प्रत्यय राग या तृष्णा है। इस तृष्णा को भूनने की ही ज़रूरत है। बीजों को भूनने के लिये भाड़ चाहिए और तृष्णा को भूनने के लिये बुद्ध का अष्टागिक मार्ग है।

इस तरह तृष्णा को दु ख के रूप में बदलने से रोका (= निरोध) जा सकता है। बहुत स्पष्ट है कि प्रतीत्य समुत्पाद का ही सरल रूप चार आर्य्यसत्य हैं। प्रतीत्य समुत्पाद का ज़रा जटिल रूप द्वादशांग हैं जिन पर हम आगे चलकर विशेषरूप से कहेगे।

प्रतीत्य समुत्पाद की साधना से मनुष्य 'प्रत्येक बुद्ध' होता है। प्रतीत्य समुत्पाद के सहारे दु खोत्पत्ति के प्रत्यय का साक्षात्कार कर उसे रोक देना मात्र ही इस साधन का ध्येय है। पर उससे दुनिया का दु ख तो बना ही रहता है। कोई भी सिद्धान्त कितना ही उत्तम क्यों न हो जब तक वह व्यवहार में ठीक नहीं बैठता तब तक उसका मूल्य नहीं के बराबर है। यदि कोई सिद्धान्त सिर्फ गिने चुने आदमियों का भला कर सके तो उसका मूल्य सब लोगों के लिये बहुत थोड़ा है। चार आर्य सत्यों अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा यदि किसी ने अपनी ही भलाई कर ली तो उससे दूसरों का क्या ? सब लोगों के दु खों को दूर करने का व्यवहारिक मार्ग अपेक्षित है। व्यक्तिगत दु ख दूर करने का तो लोग जतन करते हैं पर सब के दु.ख को दूर करने के प्रति उदासीन रहते हैं।

पर इस प्रकार का अनुदार भाव हमेशा से न था। मानवसमाज के विकास के बारे में यह ख्याल किया जाता है कि एक युग था जब लोगों के पास अपना अपना कुछ न था। लोगों के पास जो कुछ होता वह उस समाज का समझा जाता था जिसमें कि वे रहते थे। पर बाद में यह भाव जाता रहा तथा लोग उस समाज के प्रति सोचना भूल गए जिसके कि वे अंग थे और अपनी अपनी बात सोचने लगे। और यही बात धार्मिक साधना में भी हुई। शुरू शुरू में धर्म की साधना किसी एक आदमी के स्वार्थ की चीज़ न थी पर बाद में लोग अपनी अपनी मुक्ति के पीछे उसी तरह परेशान रहने लगे जैसे साधारण लोग अपने अपने लिये धन-दौलत बटोरने में परेशान रहा करते थे। बुद्ध के समय में भी यही बात थी पर पुराना युग बिलकुल भुलाया न जा सका था। उनके समय में गणराज्य थे। बुद्ध का अपना जन्म भी गणराज्य (=प्रजातन्त्र) का ही था। गणराज्यों में रहने वाले लोग उस समय में भी सब बातों मे नहीं पर कितनी बातों में व्यक्तिगत लाभ की बात न सोच सारे समाज के लाभ की बात सोचते थे। इस बात का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से बुद्ध के उपदेशों में भी रहा।

चार आर्य सत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद की साधना बहुत कुछ व्यक्तिगत साधना है। बुद्ध जब प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार कर चुके तो उन्होंने ख्याल किया कि हमने जिस बात को जिस रूप से समझा है उसको समझ लेना लोगों के लिये आसान बात नहीं। इसलिये उन्हें ख्याल हुआ कि क्यों न मैं एकान्त जीवन बिताता हुआ अलग पड़ा रहूँ। व्यर्थ ही लोगों से माथा-पच्ची क्यों करू (विनयपिटक पृष्ठ ७८)। यद्यपि अन्त तक बुद्ध इस तरह रह न सके। उन्होंने

अपना सन्देश लोगों को दिया। स्वयं सारा जीवन घूम घूमकर अपनी बात लोगों को सुनाते रहे। उनके अनुयायियों ने भी यही किया। जनता के लिये बुद्ध और उनके अनुयायियों की उत्सर्ग-भावना ने ही कदाचित् भीतर ही भीतर एक नये विचार को उत्पन्न किया। बुद्धिमान् लोगों को यह बात समझने में देर न लगी कि बुद्ध की साधना यद्यपि व्यक्तिगत जीवन को उन्नत बनाने के लिये है पर उसका लक्ष्य समाज के जीवन को ही उन्नत करना है, अन्यथा बुद्ध के उस सन्देश का कोई अर्थ ही नहीं रहता जिसमे उन्होंने अनुयायियों से उस समय कहा था जब उनके पास दीक्षित लोगों की सख्या साठ हो गई थी। भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा था—

भिक्षुओ, बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये,...मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो। एक साथ दो-जने मत जाओ। आदि में कल्याण, मध्य में कल्याण (और) अन्त में कल्याण (—कारक) धर्म का उपदेश करो। (विनयपिटक, पृष्ठ ८७)। बहुत स्पष्ट है कि बुद्ध के धर्म का उद्देश्य 'बहु-जन हित' और 'बहु-जन-सुख' था। इस उद्देश्य के रहते हुए भी आर्य सत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद की साधनाएं व्यक्तिगत साधनाएं थीं। इनकी विस्तार से चर्चा हम आगे करनेवाले ही हैं पर इन दोनों साधनाओं का रूप इस जगह पर भी देखना ठीक होगा। इन दोनों साधनाओं में तृष्णा को दूर करना ही परम लक्ष्य है क्योंकि ससार के सारे दु खों की उत्पत्ति बौद्धों के हिसाब से कोरी तृष्णा ही है। यदि हमने अपनी तृष्णा दूर कर दी तो हम मुक्त हैं और हमे कुछ भी और कर्तव्य नहीं है। इतना मात्र ही इन साधनाओं का केन्द्रबिन्दु है। यदि सचमुच इस बात पर ज़रा ध्यान दे तो यह बात सामने आ जाती है कि इन साधनाओं में इस बात का कहीं पता भी नहीं कि इन साधकों को अपने से अतिरिक्त दूसरों के साथ भी कुछ करना है। पर बुद्ध और उनके अनुयायियों ने व्यवहारिक रूप मे इन साधनाओं के विरुद्ध ही आचरण किया है। उन्हें अपनी मुक्ति, अपने सुख की बात को छोड़ जो घूम घूम कर धर्मदेशना की धुन लगी रही, वह यह बतलाए बिना नहीं रहती कि उनका दृष्टिकोण काफी दूर तक सार्वजनीन था। साधना के द्वारा व्यक्तिगत जीवन की उन्नति परम लक्ष्य कदापि न थी यद्यपि उसे आवश्यक समझा जाता था। और इसलिये कि जो अपने जीवन को उन्नत कर सके हैं वे यदि चाहें तो दूसरों को बिना क्लेश के ही शिक्षा दे सकेंगे—उन्हें सरलता से प्रभावित कर सकेंगे—

अत्तानमेव पठम पतिरूपे निवेसये।
अथञ्ञमनुसासेय्य न किलिस्येय्य पण्डितो ॥ धम्मपद १२।२

इस बहु-जन-हित और बहु-जन-सुख के लिये प्रयत्न करने की भावना ने अनेक कथाओं को जन्म दिया। आज जातकों और अवदानों में जितनी कथाएं हैं उनका मूल मन्त्र किसी

न किसी रूप में पर-हित ही है। इनसे मिलती जुलती कथाएं पुराणों और रामायण, महाभारत के भीतर भी मौजूद हैं। पर-हित और पर-सुख के लिये त्याग करने की कहानियां उपदेश देते समय काम आती रही होंगी और आज भी काम आ रही हैं। यह कहानियां किस निकास से बौद्ध साहित्य में शामिल हुईं और उनकी ऐतिहासिक कथा क्या है इस पर तो यहां विचार करना अप्रासंगिक होगा। इतना समझ लेना काफी होगा कि इनके बारे मे सामान्यतया यह ख्याल है कि यह सब कहानियां भारतीय जनता की सबसे पुरानी कहानियां हैं। इनको भारत के सभी धर्म-सम्प्रदायों ने अपने अपने रङ्ग मे रङ्ग कर अपने साहित्य के भीतर जमा कर अमर कर दिया है। सैकड़ों की सख्या में इन कहानियों को हीनयान त्रिपिटक के भीतर देखकर यह समझते देर नहीं लगती कि साधनाओं का लक्ष्य व्यक्तिगत उन्नति होते हुए भी उनकी प्रवृत्ति बहु-जन-हित और बहु-जन-सुख की ओर ही है।

परहित और परसुख की भावना अथवा बहु-जन-हित और बहु-जन-सुख की भावनाओं से ओतप्रोत कहानियां समय पाकर धीरे धीरे बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएं बन गईं और यह ख़्याल किया जाने लगा कि सचमुच अनेकों जन्मों तक प्राणिहित के लिये अनेक प्रकार का त्याग और यत्न करते करते वह बुद्ध हुए थे। बुद्ध के जीवन में ही उनका स्थान एक शास्ता या धर्मगुरु के रूप मे बहुत ऊँचे उठ चुका था पर बाद मे जब यह सब कहानियां उनके जीवन के साथ जुड़ गईं तब तो वे बहुत कुछ कल्पनातीत हो उठे। बुद्ध के जीवन के साथ यह कहानियां क्यों और कैसे जुड़ीं? यदि उस पुराने समय को बारीक निगाह से देखें तो जान पड़ेगा कि उस समय महात्माओं में बहुत कुछ लोकोत्तरता का ख़्याल किया जाता था। पुराने समय की तो बात ही क्या, आज भी जनसाधारण से यह विश्वास टूट नहीं सका है। तरह तरह की सिद्धियों, पूर्वजन्म, परजन्म की बातों आदि का बता देना उस समय महात्माओं के बाएं हाथ का खेल समझा जाता था। फलतः बुद्ध के विषय में भी इस तरह का ख़्याल करना उस समय स्वाभाविक था। बुद्ध के जीवन में ही उनकी लोकोत्तरता का बहुत कुछ हल्ला होने लगा था जिससे चिढ़कर बुद्ध ने कहा था कि इस तरह मेरे बारे में ख़्याल करना सचमुच मेरी निन्दा है (मज्झिमनिकाय, ७१वाँ सुत्त)। खैर, बुद्ध ने अपनी लोकोत्तरता से भले ही इनकार किया हो पर उनके अनुयायियों ने लोकोत्तरता उनके गले मढ़ ही दी और उन्हीं के मुह से सैकड़ों कहानियाँ उनके पूर्वजन्म के रूप में कहलवाकर उनको इतना लोकोत्तर बना दिया कि वहां तक लोगों की सहज बुद्धि का पहुँचना भी मुश्किल हो गया। यह सब करते हुए उनके अनुयायियों ने कुछ भूलें कर दीं। लोकोत्तरता के विरुद्ध बुद्धजीवन के सम्बन्ध की कितनी ही बातें जो सचमुच उनके जीवन की बातें थीं पड़ी रहने दीं। भले ही यह बात भूल से ही हुई है। पर उसने यह बतला दिया कि

उनको लोकोत्तर बनाना साम्प्रदायिक प्रवृत्ति थी पर यह अकारण न थी। चमत्कारों पर भरोसा करने वाली उस दुनिया के लिये यदि बुद्ध को वे चमत्कारी ढग से न पेश करते तो उन्हें मानता कौन ?

जब बुद्ध के बारे में ख्याल किया जाने लगा कि अनेकों जन्मों तक रगड़ करते करते वह बुद्ध हुए हैं तब उनके उस त्याग और साधना का भी धीरे धीरे वर्गीकरण होना शुरू हुआ। इस वर्गीकरण का नाम ही 'पारमिता' है। अनेकों जन्मों तक जो कुछ प्राणि-हित के लिये उन्होंने प्रयत्न किए उन्हें एक शब्द 'पारमिता' के द्वारा कहा जाता है। बहुत जन्मों तक किया गया उनका त्याग और तप सब एक ही तरह का न था। उसकी बहुत सी क़िस्में थीं इसलिये पारमिताओं की भी बहुत सी किस्में हुई। हम इनकी विस्तार से चर्चा करने ही वाले हैं। पारमिताओं का अभ्यास दूसरों के हित के लिये ही होता है इसलिये बाद में यह भी समझा जाने लगा कि जो भी इस तरह अभ्यास करे वह बुद्ध हो सकेगा। इस तरह बुद्धत्व-प्राप्ति धार्मिक-त्याग-तप-उत्सर्ग का परम लक्ष्य बन गई। और पुराना लक्ष्य राग या तृष्णा को दूर करना कितने ही लोगों को बहुत उत्तम न जचा और उन्हे बुद्धत्व-प्राप्ति और तृष्णा-निरोध के मार्ग में विरोध दिखाई देने लगा। इस विरोध को पालने का यत्न भी हुआ (सद्धर्मपुण्डरीक, उपाय कौशल्य परिवर्त) पर सफल न हो पाया। और बुद्धत्व प्राप्ति के साधन-भूत पारमिताओं के अभ्यास को महायान और बुद्धयान कहकर तथा तृष्णा-निरोध को लक्ष्यकर साधना करनेवालों को श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान ही नहीं कहा, हीनयान कहा तथा खूब मज़ाक भी उड़ाया। अष्टसाहस्रिका में कहा है : 'जैसे कुत्ता मालिक का दिया पिण्ड छोड़कर नौकर के कौर को ढूढता फिरता है वैसे ही .. कितने ही लोग सर्वज्ञ ज्ञान की मूल प्रज्ञा-पारमिता को छोड़ शाखा, पत्ती और पयार (=पलाल) जैसे श्रावक और प्रत्येकबुद्ध यान को ढूढते फिरेंगे (पृष्ठ २७४)।' आगे चलकर फिर कहा है : 'जिन सूत्रोंमें बोधिसत्त्वयान का वर्णन नहीं है सिर्फ "आत्मदमशमक (=अपने आपका दमन शमन करनेवाले) परिनिर्वाणम्" का ही वर्णन है वे श्रावक, प्रत्येकबुद्ध की साधना को बतानेवाले हैं। बोधिसत्त्व को चाहिए कि उनकी ओर ख्याल भी न करे (पृष्ठ २७६)।' यहां दो बातों की ओर ध्यान बिना गए नहीं रहता। आरम्भ मे यद्यपि 'आत्मदमशमक निर्वाण' पर बहुत ज़ोर दिया जाता था पर धर्म के साधक बाह्य जगत् से उदासीन न रहते थे। बहुजन-हित और बहु-जन-सुख के लिये उपदेश देते थे पर उन उपदेशों की ध्वनि केवल व्यक्तिगत जीवन का विकास था। दान पुण्य आदि जो लोग करते थे वह व्यक्तिगत जीवन को, जिसकी उन्हे परलोक में आशा थी, सुखमय बनाने के लिये करते थे पर बुद्धत्वप्राप्ति लक्ष्य होने पर धर्मकर्म, दान पुण्य सभी प्राणिहित की दृष्टि से करने का विचार जागरूक

हुआ पर इससे व्यक्तिगत उन्नति का ध्येय सर्वथा हटा नही। पारमिताओं का अभ्यास करके भी अपने आपको बुद्ध बनाने का भाव भी व्यक्ति के विकास का ही प्रतीक है। पर इससे दूसरी बात जो हुई वह यह कि साधना का विषय अपना अपना शरीर न रहकर समाज का शरीर बन गया। दूसरों की भलाई करने के प्रति अपनी भलाई को भूल जाने का ख्याल उत्पन्न हुआ। यद्यपि, व्यवहार में यह बात न हो सकी और सम्भव भी न थी। भारत की समाज-व्यवस्था इस योग्य न थी कि लोग अपनेको भूलकर सब समाज की बात सोचते। पर सिद्धान्ततया इस बात को स्वीकार कर लिया गया। सिद्धान्त के रूप में यह बात माननेवालों को भी धार्मिक लोगों ने खूब बढ़ावा दिया। उस बढावे का वर्णन करने से पहले यहा बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये पक्षपात रखनेवाले साधकों के दो विभागों को जान लेना बहुत ज़रूरी है। इन पक्षपातियों में एक वे लोग होते हैं जो बुद्धत्व-प्राप्ति का सकल्प या इच्छा तो करते हैं पर उसके लिये प्रयत्न नहीं करते। दूसरे वे जो प्रयत्न भी करते हैं। दूसरी तरह के लोग (जो पर-हित के लिये अपना हित भूल जाए और पारमिताओं का अभ्यास करने लगें) निश्चय ही थोड़े मिलेंगे। पर इस सिद्धान्त के प्रति पक्षपात रखनेवालों और कोरी इच्छा करनेवालों की सख्या ज्यादा मिल सकती है। और उसके साथ यदि यह प्रलोभन भी धर्म के नेता दे दे कि इस प्रकार की इच्छा या सकल्प से बहुत पुण्य होता है तब तो इस तरह की इच्छा से किसी को मुँह फेरने की ज़रूरत नहीं है। ठीक यही बात हुई भी। एक राजा के प्रति सम्बोधन करते कहा गया है . 'सम्यक् सम्बोधि या बुद्धत्व प्राप्ति के लिये उत्पन्न सकल्प के पुण्य फल से सैकड़ो बार तुम देवताओं मे उत्पन्न हुए। सैकड़ों बार मनुष्यों में उत्पन्न हुए। देवताओं और मनुष्यों के सभी जन्मों में आधिपत्य ही करते रहे।' (शिक्षासमुच्चय पृष्ठ ९-१० पर अपर राजाववादक सूत्र का उद्धरण)। बुद्धत्व प्राप्ति के सकल्प-मात्र से देवताओं और मनुष्यों का अधिपत्य पाने के लिये भला कौन लालायित न होगा ?

इस तरह जब बुद्धत्व-प्राप्ति लक्ष्य बन गई और उस लक्ष्य की ओर बढ़नेवालों के लिये बोधिसत्त्व शब्द इस्तेमाल होने लगा तथा बुद्ध के जीवन के साथ उनके पूर्व जन्मों की—उनकी बोधिसत्त्वावस्था की कहनियाँ प्रचलित हुईं तब कल्पना ने थोड़ा और ज़ोर मारा। एक बुद्ध और बोधिसत्त्व से लोगों की तृप्ति न हुई। अनेकों अतीत बुद्धों की कल्पना हुई जिनका प्राथमिक सग्रह बुद्ध वश में है और उन बुद्धों को बुद्ध (शाक्यमुनि) के साथ मिलाने के लिये यह भी कहा गया कि उन्होंने उनकी अपने पूर्व जन्म में सेवा की थी। बुद्धों का ही नहीं अनेक बोधिसत्त्वों की कल्पना भी हुई। अतीत को ही नहीं बल्कि अनागत समय को भी इन बातों से बाँध दिया गया। जिस तरह विष्णु के बारे मे ख्याल किया जाता है कि वे कल्कि

रूप में अवतरित होंगे वैसे ही बौद्धों मे यह ख्याल किया जाता है कि बोधिसत्त्व मैत्रेय जो आज तुषित लोक मे है, आगे चल कर बुद्ध होंगे।

जो कुछ इस जगह कहा गया उसका सार इतना ही है—

(१) आरम्भिक बौद्ध धर्म-साधना का रूप तृष्णा-निरोध था जो व्यक्तिगत ही था। पर इन साधकों की प्रवृत्ति ससार के हित के लिये थी। महात्मा होने के कारण बुद्ध मे लोकोत्तर बातों का विश्वास किया जाता था।

(२) दूसरों की भलाई करने की शिक्षा देने वाली कहानियाँ उपदेशों में सुनाई जाती थीं और बाद मे वे बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएं समझी जाने लगीं तथा यह ख्याल किया जाने लगा कि पारमिताओं के अभ्यास से मनुष्य बुद्ध हो सकता है।

(३) इसके बाद अनेक बुद्धों और बोधिसत्त्वों की कल्पना उत्पन्न हुई। अनेकों बुद्ध हो चुके हैं और होंगे, यह ख्याल पक्का हुआ।

आरम्भिक बौद्ध-साधना ने तीन अलग अलग रूप थोड़े दिनों में नहीं लिए। शुरू शुरू में बहुत दिन तक वे अलग अलग नहीं हो सके थे। महायान-साधना के समर्थक साहित्य की रचना होने के साथ साथ उनका परस्पर भेद दृढ होता गया। बुद्ध के निर्वाण के बाद की पचशती के अन्त तक यह सब पक्का हो चुका था।

ग— सत्य और उनका विवेचन

बुद्ध के प्रवचनों मे कितनी ही बाते ऐसी भी कही गई हैं जो कि उस समय के लोक-व्यवहार मे प्रचलित थीं। उनके बारे में कहा गया है कि जो वे "लौकिक सज्ञाए हैं—लौकिक निरुक्तिया हैं—लौकिक व्यवहार हैं—लौकिक प्रज्ञप्तिया है, तथागत इनसे बिना लिप्त हुए, व्यवहार करते हैं।" (बुद्धचर्या, पृष्ठ १९९)

बाद में चलकर यह विषय बुद्धिमानों के विचार का विषय बन गया कि बुद्ध ने कौन कौन बातें लौकिक व्यवहार के अनुरोध से कहीं है और कौन बातें उनकी अपनी हैं। चार आर्य सत्यों का भी इस दृष्टि से विचार हुआ। सभी कुछ दु:ख है, यह बुद्ध का विचार था। सभी कुछ का वर्गीकरण रूप (=मैटर), वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों में किया गया है। इनमें विज्ञान से अभिप्राय मन से है—चित्त से है। वेदना, सज्ञा और सस्कार चित्त के विषय—'चैतसिक' कहलाते हैं। इस तरह यह सख्या घटकर तीन ही रह जाती है। इनमें चित्त और चैतसिक सूक्ष्म हैं—कोई भी स्थान नहीं घेरते-इसलिये इन्हे "नाम" कहा जाता है।

यों यह सख्या दो ही रह जाती है। पर इतनी कम सख्या से हमारा काम नहीं चल सकता इसलिये हम चित्त, चैतसिक और रूप इन तीनों से ही यहा काम लेगे, नाम और रूप दो से नहीं। इन तीनों के प्रति तृष्णा ही दु ख का कारण है। तृष्णा का त्याग या वैराग्य दु.ख का निरोध है। तृष्णा के त्याग या दु ख-निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग ही अष्टागिक मार्ग है। इन चार सत्यों को बुद्ध ने आर्य सत्य या श्रेष्ठ सचाई कहा है पर बाद मे दो सचाइयों की ही विशेषरूप से चर्चा रह गई। महायान सूत्रों मे दो सत्यों की चर्चा जगह जगह पर मिलेगी। बुद्ध के परवर्ती आचार्य भी दो ही सत्यों की चर्चा करते दिखाई पड़ेगे। इन दो सत्यों मे पहला सत्य 'सवृतिसत्य' या व्यवहार-सत्य कहलाता है। बुद्ध जिसे 'लोकप्रज्ञप्ति' कहते थे वही असल में सवृति सत्य है। दूसरा सत्य परमार्थ सत्य है। स्थविरवादियों के पिटक मे परमार्थ सत्य का विभागकर कोई बात नहीं कही गई है पर महायान सूत्रों मे इस शब्द का प्रयोग हुआ है (बोधिचर्यावतार, पृष्ठ ३६१)।

इन सत्यों मे मार्गसत्य या अष्टांगिक मार्ग व्यवहार सत्य ही समझा जाता था। वस्तुत वह है भी व्यवहार की चीज़। तृष्णा मानसिक धर्म है जो दु ख का कारण है। इसको चैतसिक धर्मों में शामिल कर लेने से चित्त, चैतसिक, और रूप यह तीन तथा तृष्णा का निरोध या निर्वाण कुल चार बाते व्यवहार-सत्य की चीज़े है या परमार्थ-सत्य की चीज़ें है, इस बात पर अलग अलग विचार हैं।

अनुरुद्ध ने चारों को परमार्थ-सत्य माना है—

> तत्थवुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो।
> चित चेतसिक रूप निब्बानमिति सब्बथा॥ अभिधम्मत्थसगह १।१

प्रज्ञाकरमति ने बोधिचर्यावतार के नवे परिच्छेद प्रज्ञा पारमिता की टीका में दूसरी कारिका के प्रसङ्ग मे इस बात की चर्चा की है · (प्रश्न) अभिधर्म में भगवान् ने चार (आर्य) सत्य कहे हैं फिर दो सत्यों के मानने की बात कैसे ? (उत्तर) चार सत्यों का दो के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। दु ख निरोध सत्य ही परमार्थ-सत्य है बाक़ी तीन सत्य व्यवहार रूप होने से सवृति-सत्य हैं।

नागार्जुन का ख़्याल था कि व्यवहार और परमार्थ की कोई सीमा बांधना ठीक न होगा। व्यवहार और परमार्थ में जो भेद दिखाई पड़ता है वह एक दूसरे की अपेक्षा से ही है। इसीलिये उन्होंने कहा है कि उत्पाद और निरोध तथा ससार और निर्वाण परमार्थतया नहीं है। (महायान-विशक, २.१४)।

इस तरह व्यवहार और परमार्थ की जो चर्चा चली उनका मूल बुद्धवचनों में ही था। हीनयान सूत्रों में कम, महायान सूत्र मे ज्यादा। परवर्ती विचारकों ने इन दोनों सत्यों पर ज्यों ज्यों विचार किया त्यों त्यों वे अस्पष्ट होते गए। इस अस्पष्टता से बचने का एक ही साधन था कि व्यवहार और परमार्थ में कोई भेद ही न किया जाए जैसा कि नागार्जुन ने किया। पर इतने से व्यवहार मे काम नहीं चल सकता। कितनी ही बातो में सर्वसाधारण लोगों का ख्याल कुछ दूसरा होता है तथा विचारकों का ख्याल कुछ दूसरा। शुरू शुरू में विचारकों के उन विचारों को जो साधारण लोगों के व्यवहार से परे होते थे, अलग करने के लिये 'परमार्थ-सत्य' शब्द का उपयोग हुआ। पुराने युग में यह ख़याल किया जाता था कि साधारण लोगों की अपेक्षा योगी लोग विशेषज्ञ होते हैं। इन योगियों की बातें बहुधा लोक व्यवहार के विरुद्ध हुआ करती थीं पर लोग उन्हे पहुँचा हुआ मान कर उनकी बातों को श्रद्धा के साथ देखा करते थे और समझते थे कि उनकी लोक-विरोधी बातें ही परमार्थ सत्य हैं। योगी लोग भी एक तरह की बात न कहते थे उनकी बातों में भी परस्पर विरोध रहता था। उन विरोधी बातों की संगति लगाने का तब तक कोई भी उपाय न था। जब तक यह न मान लिया जाए कि उनमें एक कम पहुँचा हुआ है और एक ज्यादा पहुँचा हुआ है। यही किया भी गया। धार्मिक सम्प्रदायों के भीतर हर एक अपने अपने आचार्यों को अधिक पहुँचा हुआ मानते थे फलतः उन्हें अपने आचार्यों की बातें परमार्थ-सत्य तथा दूसरों की बातें अपरमार्थ-सत्य लगा करती थीं। पर सिर्फ इतने भर से बुद्धि को सन्तोष नहीं होता। सवृति और परमार्थ के विषय मे जिज्ञासा बनी ही रहती है। इसलिये बाद में बुद्धि को थकाने का भी जतन किया गया। नागार्जुन का विचार कि सवृति और परमार्थ में रेखा न खींची जाए बहुत कुछ बुद्धि को विश्राम देता था। जिन बातों को लोग परमार्थ सत्य समझते थे उनकी परमार्थता से इनकार कर देना बहुत कुछ दिमागी उलझनों से बचा लेता था पर लोगों को सरल बात से तथा उस बात से, जो उनकी समझ में आ जाए, पूरी तृप्ति नहीं होती, फलत. परमार्थ को कितने लोगों ने बुद्धि से अगोचर (बोधि-चर्यावतार ९।११) बताकर उनकी बुद्धि को हमेशा के लिये उलझने की सामग्री दे दी। अनेक प्रकार के विरोधी विशेषणों से परमार्थ का वर्णन होने लगा। वे सब वर्णन समझ में न आने पर भी बड़े रोचक हैं। बानगी के तौर पर असङ्ग का यह श्लोक बहुत काफी है—

न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा न जायते व्येति न चावहीयते।
न बर्द्धते नापि विशुद्ध्यते पुनर्विशुद्ध्यतेतत्परमार्थलक्षणम् ॥

महायान सूत्रालंकार ६।१

छ· पारमिताओं का चार वर्गों में विभाजन असग ने किया है (महायान-सूत्रालंकार १६।७)। तीन शिक्षाओं के भीतर सभी बुद्ध की शिक्षाओं विभक्त करना बहुत ही पुराना ढंग है। बुद्ध ने स्वय भी अपनी शिक्षाओं को तीन भागों मे बांटा है। जिसके साथ एक सच्ची घटना भी जुड़ी हुई है।

एक समय भगवान वैशाली के महावनस्थित कूटागार-शाला में विहार करते थे। उस समय एक वज्जिदेशीय भिक्षु भगवान् के पास आया और उनको अभिवादन करके एक ओर बैठ गया और भगवान् से बोला, "हर पक्ष मे डेढ़ सौ से अधिक शिक्षा पदों का पाठ किया जाता है। भन्ते, मैं उनको सीख नहीं सकता।"

"भिक्षु, क्या तुम केवल अधिशील शिक्षा, अधिचित्त शिक्षा और अधिप्रज्ञा शिक्षा, ये तीन शिक्षाए सीख सकते हो ?"

"हाँ भन्ते, इन तीन शिक्षाओं को तो सीख सकता हूँ।"

"तो तुम इन तीनों को सीखो। इनके सीखने से तुम्हारे राग, द्वेष, और मोह का प्रहाण (नाश) होगा। राग, द्वेष और मोह के प्रहाण के बाद तुम अकुशल कर्म नहीं करोगे, और तुम पाप की तरफ नहीं जाओगे।" धर्मदूत (कोसबी जी का लेख, अक्टूबर १९४३)

बुद्धवश की दस पारमिताओं की ज़रा ध्यान से छान-बीन करे तो उनका अन्तर्भाव छ· पारमिताओं के भीतर ही हो जाता है। वे नैष्काम्य या काम भोगों की ओर न झुकना तथा सत्य शील से अतिरिक्त नहीं हैं। मैत्री और उपेक्षा एक तरह के ध्यान ही हैं, जिनके बारे में ब्रह्म-विहारों का वर्णन करते समय कहा जाएगा। अधिष्ठान या दृढ़ सकल्प का भी वीर्य के भीतर सरलता से समावेश हो सकता है। इस तरह छ पारमिताओं का विभाजन कम नहीं है और न इनकी सख्या अधिक बढाने की ही अपेक्षा है। इन छ· पारमिताओं के अतिरिक्त उपाय, प्रणिधान, बल और ज्ञान इन चार पारमिताओं की भी महायान ग्रन्थों में चर्चा है। इनमें ज्ञान का प्रज्ञा के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। उपाय, प्रणिधान (सकल्प), और बल भी वीर्य से अतिरिक्त नहीं हैं।

असग ने इन छ· पारमिताओं का निर्वचन किया है। दान-पारमिता दारिद्र्य को दूर करती है। शील-पारमिता विषयनिमित्तक क्लेशरूपी आग को ठढा करती है। क्षान्ति पारमिता क्रोध का क्षय करती है। वीर्य-पारमिता वर या कुशल धर्मों से जोड़ती है। ध्यान पारमिता मन को धारण करती है। प्रज्ञा-पारमिता से परमार्थ का ज्ञान होता है। (महायान सूत्रालकार १६।१३)।

बोधिसत्त्व इन पारमिताओं का अभ्यास प्राणियों की सद्वृत्तियों को पक्का करने के लिये

करता है। दानपारमिता का अभ्यास करते हुए बोधिसत्त्व के पास जो कुछ होता है, वह उसके उत्सर्ग के लिये तैयार रहता है। नारायणपरिपृच्छा मे बताया गया है कि "जिस तरह कोई लोग भैषज्य वृक्ष की जड़ ले जाते हैं, कोई शाखाए, कोई पत्तिया, कोई पुष्प और कोई फल ले जाते हैं, पर भैषज्यवृक्ष ख़्याल तक नहीं करता कि लोग मेरा क्या लिए जा रहे हैं इसी तरह बोधिसत्त्व को चाहिए कि अपने को भैषज्यवृक्ष समझे और लोग जो कुछ ले जाना चाहते हैं, ले जाने दे (शिक्षासमुच्चय, २१)।

शीलपारमिता का अभ्यास करते हुए बोधिसत्त्व काय और वचन से पूरा सयम रखता है। इन शील या संयमों का विचार करते समय पहले सर्वसामान्य शील का ही विचार करना ठीक होगा। प्रत्येक बौद्ध के लिये आरम्भिक पाँच शील बहुत ज़रूरी हैं—

१ प्राणातिपात (या प्राणिहिसा) से विरति।
२ अदत्तादान (या चोरी) से विरति।
३ काममिथ्याचार (या व्यभिचार) से विरति।
४. मृषावाद (या असत्यभाषण) से विरति।
५ सुरामेरयमद्य प्रमादस्थान (या मादक द्रव्यों की मादकता) से विरति।

यह पाँच शिक्षाए सभी के लिये बहुत आवश्यक हैं। भिक्षु के लिए तो कामाचार की ही गुंजायश नहीं फिर काम मिथ्याचार से विरत रहने का प्रश्न ही कहाँ? उसे पूर्णतया ब्रह्मचर्य पालन करना ज़रूरी है।

बौद्धों के पालि और सस्कृत दोनों साहित्यों में दस कुशल कर्मपथों की चर्चा है—

१ प्राणातिपात (या प्राणिहिसा) से विरति।
२ अदत्तादान (या चोरी) से विरति।
३. काममिथ्याचार (या व्यभिचार) से विरति।
४. मृषावाद (या असत्यभाषण) से विरति।
५ पिशुन वाक् (या चुग़ली) से विरति।
६ परुषवाक् (या कटुवचन) से विरति।
७ सम्प्रलाप (या बकवाद) से विरति।
८. अनभिध्या (या अति लोभ) से विरति।
९. अव्यापाद (या दैमनस्य) से विरति।
१०. सम्यग्दृष्टि (या मिथ्यादृष्टि) से विरति।

इनमें अनभिध्या, अव्यापाद और सम्यग्दृष्टि का सम्बन्ध मन से है। यहाँ हमें केवल

शरीर और वाचा के शीलों का विचार करना है, इसलिये उनसे कुछ प्रयोजन नहीं। बाकी सात को आदि-ब्रह्मचर्य-शील कहते हैं। आदिब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्मचर्य की नींव। यह शील सबके लिये एक जैसे हैं। हाँ, भिक्षुओं के लिये काममिथ्याचार के परित्याग की जगह पूरे तौर पर कामाचार के परित्याग का नियम है।

पचशील और आदिब्रह्मचर्यक शील—इन दोनों का किसी प्रसग में त्याग न करना अधिशीलशिक्षा है। इसी को 'पटिसम्भिदा' में अपर्यन्तशील कहा है।

सपर्यन्तशील कौन-सा है? लाभपर्यन्तशील, यश.पर्यन्तशील, बान्धवपर्यन्तशील, अगपर्यन्तशील और प्राणपर्यन्तशील ये सपर्यन्तशील हैं। लाभपर्यन्तशील कौन-सा है? इस ससार में कई लोग लाभ के हेतु, लाभ के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लघन करते हैं। यश पर्यन्तशील कौन-सा है? इस ससार में बहुत से लोग यश के हेतु, यश के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लङ्घन करते हैं। बान्धवपर्यन्तशील कौन-सा है? इस ससार मे अनेक लोग बान्धव हित के हेतु, बान्धव हित के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लङ्घन करते हैं। अङ्गपर्यन्त शील कौन-सा है? इस ससार मे कई लोग अङ्गरक्षा के हेतु, अङ्गरक्षा के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लङ्घन करते हैं। प्राणपर्यन्तशील कौन-सा है? इस ससार मे बहुत से लोग अङ्गरक्षा के हेतु, अङ्गरक्षा के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लङ्घन करते हैं। यह है सपर्यन्त शील।

इसके विपरीत जिस शील का लाभ, यश, बान्धव, प्राण, अङ्ग के कारण परित्याग नहीं किया जाता, वह है अपर्यन्त शील, वह मर्यादित नहीं है। यह है अधिशीलशिक्षा जिसका कि बुद्ध ने उपदेश दिया है और जिसका उनके अनुयायी बोधिसत्त्वों को बिना अपवाद के पालन करना आवश्यक है।

शिक्षासमुच्चय मे उद्धृत सद्धर्मस्मृत्युपस्थान में इन कुशल कर्मपथों के विपरीत करने से नरक का भय दिखाया गया है। नरक का भय दिखाकर लोगों को अधर्म से रोकना तथा स्वर्ग का प्रलोभन देकर धर्म की ओर प्रेरित करना सब धर्मों के लिये साधारण बात है। उन सब नरकों की पीड़ाओं का जो कुशलकर्मपथ के विपरीत चलने पर मिलती हैं, वर्णन करना विशेष रोचक बात नहीं है और न उनमें कोई नवीनता ही है। सिर्फ नरक में किस अकुशलकर्मपथ का क्या दण्ड मिलता है इसको एक सारणी बना लेना ठीक रहेगा—

अकुशल कर्मपथ	नरक मे दण्ड
प्राणातिपात (प्राणिबध)	नारकीय पक्षियों द्वारा अङ्ग अङ्ग का भक्षण किया जाना।
अदत्तादान (चोरी)	यम पुरुषों द्वारा अङ्ग अङ्ग का काटा जाना।

काममिथ्याचार (व्यभिचार)	लोहे की स्त्रियों द्वारा चबाया जाना।
मृषावाद (असत्यभाषण)	यमपुरुषों द्वारा जीभ का हल से जोता जाना।
पैशुन्य (चुगली)	यमपुरुषों द्वारा जीभ का तलवार से काटा जाना।
संभिन्न प्रलाप	पिघले तांबे का पिलाया जाना।
पारुष्य	प्राणी को जिह्वा काटकर उसे खिलाना।
अभिध्या	नरक मे धन देख उसके लिये लड़ लड़कर टुकड़े टुकड़े हो जाना।
व्यापाद	हिंसक प्राणियों द्वारा खाया जाना।
मिथ्यादृष्टि	अग्निदाह।

नरकों की इस दण्डव्यवस्था से रोमांच हुए बिना नहीं रहता। पर इस तरह के दण्ड और अत्याचार उस पूर्व युग मे मनुष्य को सहने भी पड़ते थे। और आज भी उस तरह के अत्याचारों और कड़े दण्डों की बीच बीच मे कभी कभी पुनरावृत्ति हो जाती है। नरक के भयों को दिखाकर बुराइयों को एक ओर धार्मिक लोग रोकते थे तथा दूसरी ओर राजा लोग कितने ही अपराधों पर नरकोपम दण्ड देकर जनता को भीत करते थे। पर दोनों तरह से शायद ही दुष्कर्म रोके जा सके हों। इन अकुशल कर्मों को लोग कितनी बार मजबूर होकर भी करते हैं। चक्रवर्ती सिंहनाद सूत्र (दीघनिकाय पृष्ठ २३३) मे बुद्ध ने कहा है कि दरिद्रों के पास धन न होने से उनमें यह सब दुर्गुण आ जाते हैं—“चोरी, हत्या, असत्यभाषण, चुगली, व्यभिचार, कटुभाषण, बकवाद, अतिलोभ, दौर्मनस्य, मिथ्यादृष्टि, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा का अभाव।” बुद्ध इन सब दुराचारों की जड़ तक पहुँचे थे। दरिद्रता ही सब दुराचारों की जड़ है। दरिद्रता को बिना दूर किए मनुष्य के लिये दुर्गुणों और दुराचारों से बचना सम्भव ही नहीं। बोधिसत्त्वों की दानपारमिता का उद्देश्य दरिद्रता दूर करना ही है। दानपारमिता से मतलब उस तरह के दानों से नहीं है जिस तरह के दानों से लोग अपनी आमदनी के एक अल्पांश को देकर दानवीर होने का स्वाँग रचते रहे हैं। शान्तिदेव ने दानपारमिता को समझाते हुए कहा है—

फलेन सह सर्वस्वत्यागचित्ताज्जनेऽखिले।
दानपारमिता प्रोक्ता तस्मात् सा चित्तमेव तु ॥ बोधिचर्यावतार, ५।१०

सब प्राणियों के लिये फल के सहित सर्वस्व त्याग करनेवाले चित्त से दानपारमिता की पूर्णता कही गई है, इसलिये वह चित्त ही है।

यदि चित्त का भाव इस तरह का हो जाए तो ससार का स्वरूप उस परिवार के समान हो सकता है जिसमे किसी के पास कुछ नहीं है और सबके पास सब कुछ है। बोधिसत्त्वों की दानपारमिता का आदर्श यही है। जितनी हद तक उस आदर्श पर पहुँचा जा सकेगा उतनी हद तक ससार में दरिद्रता से उत्पन्न बुराइयां दूर हो सकेंगी। और तब शीलपारमिता को पूरा करना अधिक से अधिक मात्रा में सभव हो सकेगा।

बोधिसत्त्व क्षान्तिपारमिता का अभ्यास करते हुए दूसरे के अपराधों को—दूसरे के अपकारों को—क्षमा कर देता है। किसी भी अवस्था मे मन के भीतर विकार नहीं आने देता प्रत्युत सदा सब बातें सह लेता है और उद्विग्न नहीं होता। बुद्ध ने ककचूपमसुत्त (मज्झिमनिकाय पृष्ठ ७९) [क्रकचोपम सूत्र] मे कहा है: "भिक्षुओ, चोर-लुटेरों द्वारा आरे से अङ्ग-प्रत्यगों के चीरे जाने पर भी जो मन को दूषित करे, वह मेरा शासनकर (उपदेशानुसार चलनेवाला) नहीं। वहा पर भी भिक्षुओ, ऐसा सीखना चाहिए मैं अपने चित्त को विकारयुक्त न होने दूँगा और न दुर्वचन निकालूँगा, मैत्री भाव से हितानुकम्पी होकर विहरूँगा, न कि द्वेषपूर्ण चित्त से। उसको लक्ष्य (=आरम्भण) करके सारे ससार को विपुल विशाल, अप्रमाण मैत्रीपूर्ण चित्त से आप्लावित कर वैर और द्वेष से रहित हो विहरूँगा। भिक्षुओ, तुम्हे यही सीखना चाहिए।"

बोधिसत्त्व वीर्यपारमिता का अभ्यास करते हुए बहुश्रुत होने का प्रयत्न करता है, सदा प्रयत्नशील रहता है। बुद्ध ने कहा है—

य किंचि सिथिलं कम्मं सकिलिट्ठ च य वत।
सकस्सर ब्रह्मचरियं न त होति महप्फलम्॥ (धम्मपद २२।७)

अर्थात्, ढीले ढाले ढंग से किया गया काम, अशुद्ध व्रत, और अपवित्र ब्रह्मचर्य का फल महान् नहीं होता।

कयिर चे कयिराथेन दल्हमेन परिक्कमे।
सिथिलोहि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रज॥ (धम्मपद २२।८)

यदि करना है तो करे और खूब मेहनत से करे। ढीला-ढाला सन्यासी ज्यादा धूल उड़ाता है।

मन को शान्त रखने के लिये बोधिसत्त्व ध्यानपारमिता का अभ्यास करता है। शील पारमिता का अभ्यास ठीक ठीक सांसारिक जीवन के भीतर ही होता है। जंगल में रहते कौन शीलवान् नहीं हो सकता? पर ध्यानपारमिता का अभ्यास घर की अपेक्षा जगल में अच्छी तरह से होता है। चन्द्रप्रदीपसूत्र (शिक्षासमुच्चय पृष्ठ १९५) में कहा है—

वनषण्ड सेवथ विविक्त सदा विजहित्व ग्रामनगरेषु रतिम् ।
अद्वितीय खड्गसम भोथ सदा न चिरेण लप्स्यथ समाधिवरम् ॥

अकेले जंगल का सेवन करो। गाँवनगरों का प्रेम छोड़ दो। बिना किसी दूसरे के सदा खड्ग (=गेंडे के सींग) के समान बनो। इस तरह श्रेष्ठ समाधि मिलते देर न लगेगी।

विशुद्धिमार्ग में समाधिबाधक ये दस वस्तुएँ बताई गई हैं—

आवासो च कुल लाभो गणो कम्म च पचम।
अद्धान भाति आबाधो गन्थो इद्धीति ते दस ॥

आवास का अर्थ है रहने की जगह। उसकी गणना सूत्रलवी इन गाथाओं मे आई है—

महावास नवावास जरावास च पन्थनि।
सोण्डि पण्ण च पुप्फ च फल पत्थितमेव च ॥
नगर दारुना खेत्त विसभागेन पट्टन।
पच्चन्तसीमा सप्पाय यत्थ मित्तो न लब्भति ॥
अट्ठरसेतानि ठानानि इति विञ्ञाय पण्डितो।
आरका परिवज्जेय्य मग्गं पटिभय यथा ॥

यहा महावास से मतलब है महाविहार, जहा बहुत से भिक्षु तथा श्रामणेर रहते हैं। वहां सफाई और धुलाई का काम करना पडता है। आसपास कोई ज़ोर ज़ोर से बोलने या सूत्र पाठ करने लगे तो मन एकाग्र करना कठिन है। इस प्रकार और अनेक उपद्रव उपस्थित होने से ऐसी जगह समाधि लगाना सम्भव नहीं।

नवावास का अर्थ है ऐसा स्थान जहा नया काम चालू हो। वहा बढ़ई, राजगीर आदि कर्मकारों से अनेक बाधाएँ पहुँचती रहती हैं। वे ईंट, पत्थर आदि पदार्थ इधर उधर नीचे गिराते हैं और उनकी आवाज़ से बीच बीच मे समाधि भङ्ग होती है। चारों ओर इमारत का सामान पड़ा रहता है। ऐसी जगह कोई शान्तचित्त से चक्रमण नहीं कर सकता। इस प्रकार नवावास में समाधि के लिये बड़ी रुकावटें होती हैं।

जरावास का अर्थ है जीर्णशाला या गृह। जो विहार या गृह पुराना हो गया है वह वर्षाकाल में चूता है। उसकी दीवार इधर उधर से फटती है। ज़मीन से दीमक निकलती है और चूहे उसमें बिल बनाते हैं। इस तरह विहार अथवा घर की मरम्मत करते करते परेशानी होती है। तब फिर उसमें बैठकर समाधि लगाने का अवसर कहा होगा?

पन्थनी का अर्थ है बड़ी सड़क के पास का विहार या भवन। उसके पास गाड़ीवाले

अपनी गाड़ियों को खड़ा करते हैं, राहगीर वहां विश्राम करते और आपस में बातचीत करते हैं। इसलिये इस प्रकार का विहार अथवा मकान समाधिभावना के योग्य नहीं।

सोण्डी का मतलब है टंकी या तालाब अथवा इसी प्रकार का दूसरा जलाशय जहां पानी पीने और स्नान करने के लिये लोग इकट्ठे होते हैं। ऐसे स्थान के पास के विहार अथवा मकान में योगाभ्यास करना शक्य नहीं।

पण्ण (पर्ण) का अर्थ है तरकारी के लिये उपयोगी पत्ती। जिस खेत में साग पैदा होता है वहां बच्चे और स्त्रियां साग तोड़ने आती हैं; वे वहां बात चीत करती और गाती हैं। इसलिये उसके पास के स्थान में योगाभ्यास करना मुश्किल है।

पुप्फ का अर्थ है फूलों का बगीचा। वहां भी उपरोक्त उपद्रव होते हैं।

फल का अर्थ है फलों का बगीचा। वहां भी अनेक उपद्रव होते हैं और पास के स्थान में बैठकर योगी समाधि भावना नहीं कर सकता।

पत्थित (प्रार्थित) का अर्थ है प्रार्थनीय जगह, जैसे बुद्ध गया, सारनाथ, कुशीनगर आदि। वहां बहुत से यात्री आते हैं। उन स्थानों के समीप जब कोई योगाभ्यास करने लगता है तब उसे सत्पुरुष समझकर यात्री लोग इकट्ठे होते हैं। अनेक प्रश्न पूछते हैं। आदर-सत्कार कर भेंट-पूजा चढ़ाते हैं। इससे वह चित्त एकाग्र करने में असमर्थ होता है।

नगर का अर्थ है शहर या उसके पास की जगह जहां गाड़ी, घोड़े और आदमियों का उपद्रव लगातार लगा रहता है।

दारु का अर्थ है इमारत बनाने में काम आनेवाली लकड़ी। जहां उस लकड़ी का जंगल है वहां लकड़हारे आकर हल्ला मचाते हैं। ऐसे जङ्गल के पास का स्थान भी योगाभ्यास के लिये विघ्नपूर्ण है।

खेत में जोतने, बोने और चिड़ियों को भगाने के लिये किसान आते और शोर मचाते हैं। इसलिये उसके आस पास का स्थान समाधि के योग्य नहीं।

विसभाग है परस्पर विरोधियों के रहने की जगह। वे दलबन्दी कर आपस में लड़ते रहते हैं। वहां किसी न किसी पक्ष की तरफ़ से कोई न कोई उपद्रव होता ही रहता है। अतः ऐसे निवास स्थान में समाधि साध्य नहीं।

पट्टन दो प्रकार का होता है; स्थलपट्टन और जलपट्टन। स्थलपट्टन है बड़ी हाट जहां गाँववाले सामान लाते और उसका क्रय-विक्रय करते हैं। जलपट्टन है बन्दरगाह। वहां भी उसी तरह का क्रय-विक्रय होता है। इस प्रकार पट्टन में भी खरीदने और लेने वालों के उपद्रव होते रहते हैं। इसलिये यह स्थान भी योगाभ्यास के लिये निषिद्ध है।

पच्चत या प्रत्यन्त है जगलो प्रान्त जहां जगली लोग रहते हैं। वे लोग योगाभ्यास की कीमत नहीं समझते। समाधिस्थ योगी के चारों ओर भी शिकार खेलने से वे नहीं हिचकते और उसकी समाधि में बाधा डालते हैं।

सीमा है राज्य की सीमा। उसके पास रहने से विरोधी राजा उसे गुप्तचर समझते हैं और कभी इस राजा से तो कभी उस राजा से उपद्रव पहुँचता है।

असप्पाय (असत्प्राय ?) है प्रतिकूल जगह जहा रहने से अनुकूल अन्न नहीं मिलता। कामविकार के लिये उत्तेजना मिलती है, और चित्त स्थिर नहीं होता।

मित्र से अभिप्राय है समाधि मे मदद करनेवाला मित्र, जिसने स्वय समाधि प्राप्ति की है। ऐसा मित्र समाधि के मार्ग में आनेवाले विघ्न को जानता है और उनको दूर कर सकता है। जहा ऐसा मित्र नहीं मिल सकता वहाँ समाधि की सिद्धि सुलभ नहीं।

इस प्रकार के अठारह स्थान सदोष समझे जाते हैं। किन्तु वे सब योगियों के लिये बाधक नहीं होते। असाधारण पुरुष विषम परिस्थिति में भी योगाभ्यास कर सकते हैं। इस विषय में विशुद्धि मार्ग में यह दृष्टान्त आया है—

लका द्वीप मे अनुराधपुर नगर के बाहर स्तूपाराम नाम का बड़ा विहार था। उसमें बहुत भिक्षु रहते थे। दो तरुण मित्रोंने गृह त्याग कर उस भिक्षुसघ मे प्रवेश किया। भिक्षुओं के नियमानुसार पाँच वर्ष तक उन्होंने विनय का अध्ययन किया। बाद मे उनमें से जो छोटा था वह प्राचीनखडराजि नाम के दूर के गांव मे रहने लगा। वहा पाँच छः वर्ष रहकर फिर अपने मित्र से मिलने स्तूपाराम आया। ज्येष्ठ भिक्षु ने उसका अतिथि-सत्कार किया। सायकाल का समय था। दोपहर के बाद भिक्षु लोग अन्न ग्रहण नहीं करते। लेकिन आम, नीबू आदि फलों का पानक (शरबत) बनाकर पीते हैं। कनिष्ठ भिक्षु यात्रा से थका हुआ था। उसने विचार किया कि विहार में तो किसी तरह का पानक अवश्य मिलेगा। किन्तु उसे पानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। तब उसने सोचा कि मित्र के दायक विहार में आकर दान नहीं देते होंगे। कल सबेरे जब हम दोनों अनुराधपुर में भिक्षाटन करेंगे तब निश्चय ही अच्छे अच्छे खाद्य पदार्थ मिलेंगे।

दूसरे दिन दोनों मित्र शहर में भिक्षाटन करने गए। दोनों को थोड़ी सी यवागू (लपसी) मिली। एक आसनशाला (धर्मशाला) में बैठकर दोनों ने उसे पी लिया। तब कनिष्ठ के मन में आया कि शायद सुबह देनेवाला दायक नहीं होगा। किन्तु दोपहर को कोई न कोई उपासक अच्छा भोजन देगा। लेकिन दोपहर को भी अच्छा अन्न नहीं मिला। जो कुछ साधारण भिक्षा मिली उसे एक आसनशाला में बैठकर खा लिया और दोनों स्तूपाराम

छः पारमिताओं का चार वर्गों में विभाजन असंग ने किया है (महायान-सूत्रालंकार १६।७)। तीन शिक्षाओं के भीतर सभी बुद्ध की शिक्षाओं विभक्त करना बहुत ही पुराना ढंग है। बुद्ध ने स्वयं भी अपनी शिक्षाओं को तीन भागों में बांटा है। जिसके साथ एक सच्ची घटना भी जुड़ी हुई है।

एक समय भगवान वैशाली के महावनस्थित कूटागार-शाला में विहार करते थे। उस समय एक वज्जिदेशीय भिक्षु भगवान् के पास आया और उनको अभिवादन करके एक ओर बैठ गया और भगवान् से बोला, "हर पक्ष में डेढ़ सौ से अधिक शिक्षा पदों का पाठ किया जाता है। भन्ते, मैं उनको सीख नहीं सकता।"

"भिक्षु, क्या तुम केवल अधिशील शिक्षा, अधिचित्त शिक्षा और अधिप्रज्ञा शिक्षा, ये तीन शिक्षाएं सीख सकते हो?"

"हाँ भन्ते, इन तीन शिक्षाओं को तो सीख सकता हूँ।"

"तो तुम इन तीनों को सीखो। इनके सीखने से तुम्हारे राग, द्वेष, और मोह का प्रहाण (नाश) होगा। राग, द्वेष और मोह के प्रहाण के बाद तुम अकुशल कर्म नहीं करोगे, और तुम पाप की तरफ़ नहीं जाओगे।" धर्मदूत (कोसंबी जी का लेख, अक्टूबर १९४३)

बुद्धवंश की दस पारमिताओं की ज़रा ध्यान से छान-बीन करें तो उनका अन्तर्भाव छः पारमिताओं के भीतर ही हो जाता है। वे नैष्काम्य या काम भोगों की ओर न झुकना तथा सत्य शील से अतिरिक्त नहीं हैं। मैत्री और उपेक्षा एक तरह के ध्यान ही हैं, जिनके बारे में ब्रह्म-विहारों का वर्णन करते समय कहा जाएगा। अधिष्ठान या दृढ़ संकल्प का भी वीर्य के भीतर सरलता से समावेश हो सकता है। इस तरह छः पारमिताओं का विभाजन कम नहीं है और न इनकी संख्या अधिक बढ़ाने की ही अपेक्षा है। इन छः पारमिताओं के अतिरिक्त उपाय, प्रणिधान, बल और ज्ञान इन चार पारमिताओं की भी महायान ग्रन्थों में चर्चा है। इनमें ज्ञान का प्रज्ञा के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। उपाय, प्रणिधान (संकल्प), और बल भी वीर्य से अतिरिक्त नहीं हैं।

असंग ने इन छः पारमिताओं का निर्वचन किया है। दान-पारमिता दारिद्र्य को दूर करती है। शील-पारमिता विषयनिमित्तक क्लेशरूपी आग को ठंढा करती है। क्षान्ति पारमिता क्रोध का क्षय करती है। वीर्य-पारमिता वर या कुशल धर्मों से जोड़ती है। ध्यान पारमिता मन को धारण करती है। प्रज्ञा-पारमिता से परमार्थ का ज्ञान होता है। (महायान सूत्रालंकार १६।१३)।

बोधिसत्व इन पारमिताओं का अभ्यास प्राणियों की सद्वृत्तियों को पक्का करने के लिये

है ।—एक बूढ़े ब्राह्मण ने नई शादी की। ब्राह्मण के घर रहते उसकी नवयुवती पत्नी को अपने मन के दोस्तों से हँसने-खेलने का मौका न मिल पाता था इसलिये उसने सोचा कि ब्राह्मणदेवता को किसी-न-किसी तरह बाहर भेजना चाहिए। पत्नी के कहने से ब्राह्मणदेवता भिक्षाटन के लिये गए। उन्हे काफी भिक्षा मे धन मिला और उसे उन्होंने उसी झोले में डाल लिया जिसमे उनकी पत्नी ने दिन को खाने के लिये सत्तू दिए थे। लौटते वक्त उन्होंने एक नदी के किनारे सत्तू खाए और झोली वहीं छोड़ पानी पीने नदी मे उतरे। पानी पी, हाथ मुँह धो जब तक झोले के पास पहुँचे तब तक सत्तू की गन्ध पा बाँबी से एक काला साँप झोले मे घुस गया। ब्राह्मण देवता लौटे और झोले का मुँह रस्सी से बाँध चल पड़े। मनमे बड़े प्रसन्न थे कि आज इस धन को देखकर उनकी पत्नी बड़ी प्रसन्न होगी। रास्ते में एक वृक्षदेवता ने कहा यदि तुम शाम को कहीं ठहर जाओगे तो तुम मर जाओगे, यदि घर जाओगे तो तुम्हारी स्त्री मर जाएगी। ब्राह्मण देवता बड़े दु खी हुए। रास्ते मे बोधिसत्त्व की धर्मदेशना हो रही थी। यह भी पहुँचे पर मन ही मन इतने दुःखी थे कि उनकी तबीयत धर्मोपदेश से न बहली। धर्मदेशना समाप्त होने पर बोधिसत्त्व ने ब्राह्मण देवता से उनके दु ख का करण पूछा। उन्होंने वृक्षदेवता की बात बताई। बोधिसत्त्व ने ब्राह्मण से और सब बातें पूछीं। नदी पर सत्तू खाने की समूची घटना से बोधिसत्त्व को समझते देर न लगी कि ब्राह्मण देवता के झोले में ज़रूर कोई ऐसी चीज़ है जिससे मृत्यु हो सकती है। उन्होंने अनुमान किया कि जरूर साँप इनके झोले मे घुस गया है और यह उसे झोले में बांधे घूम रहे हैं। यह जानकर बोधिसत्त्व ने झोले को खुलवाया। साँप उसमें से निकला। इस तरह ब्राह्मणदेवता की जान बची। बोधिसत्त्व ने इस कहानी में जिस प्रज्ञा का परिचय दिया वह प्रतिभा विशेष ही है।

प्रज्ञा से अभिप्राय हमेशा इस तरह की व्यवहारिक प्रतिभा से नहीं है। अष्टसाहस्रिका मे प्रज्ञा के दार्शनिक रूप पर बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है—

सुभूति—"भगवन्, प्रज्ञा पारमिता का क्या लक्षण है।"

भगवान्—"प्रज्ञा पारमिता असगलक्षणा होती है। असगलक्षणा होने से ही प्रज्ञा-पारमिता शून्य है और इसीलिये सब धर्म भी शून्य है।"

सुभूति—"यदि भगवन् सब धर्म शून्य है तब सत्त्वों (=प्राणियों) के सक्लेश (=मल) और व्यवदान (=शुद्धि) की बात क्यों कही जाती है।"

भगवान्—"क्या तुम समझते हो कि सत्त्व अहकार और ममकार मे भटकते रहते हैं।"

सुभूति—"हाँ भगवन्, सत्त्व अहंकार और ममकार मे भटकते रहते हैं।"

भगवान्—"क्या तुम समझते हो कि अहकार और ममकार शून्य हैं?"

सुभूति—"शून्य हैं भगवन्, शून्य है सुगत।"

भगवान्—"क्या तुम समझते हो कि अहकार और ममकार के कारण ही सत्त्व ससारे मे जन्मते-मरते हैं।"

सुभूति—"हाँ भगवन्, अहकार और ममकार के कारण ही सत्त्व ससार मे जन्मते और मरते रहते है।"

भगवान—"सत्त्वों का जैसा अभिनिवेश (=आग्रह) होता है वैसा ही सक्लेश होता है। अभिनिवेश न हो तो अहकार और ममकार नहीं। इसी तरह व्यवदान की बात है (पृष्ठ ३९२-४००)।

यहाँ शून्य शब्द से घबराने की ज़रूरत नहीं है। शून्य से अभिप्राय किसी चीज़ के नाश, ध्वस या अभाव से नहीं है। अष्टसाहस्रिका में इस बात से सावधान कराया कि कुछ लोग प्रज्ञा पारमिता की बहुत ग़लत बानगी (=प्रतिवर्णिका) पेश करते हैं—

"कुछ लोग प्रज्ञापारमिता की उलटी बानगी का उपदेश देते हैं। रूपविनाश को रूप की अनित्यता बतलाते हैं। इसी तरह वेदना, सज्ञा, सस्कार, और विज्ञान के विनाश को उनकी अनित्यता बतलाते हैं। प्रज्ञा पारमिता को जो इस तरह खोज करता है, प्रज्ञापारमिता का अभ्यास करता है, यही प्रज्ञा पारमिता की उलटा बानगी है।

प्रज्ञापारमिता के प्रतिपादक साहित्य प्रज्ञापारमिता सूत्रों का इतिहास भी अष्टसाहस्रिका में बताया गया है। वह भी रोचक है—

"पश्चिमकाल पश्चिम समय (=पिछले युग=आनेवाले युग) मे इस प्रज्ञापारमिता का विस्तार उत्तर दिशा मे, उत्तर दिग्विभाग मे होगा।

इस तरह के सूत्र तथागत के परिनिर्वाण के बाद दक्षिणापथ में प्रचार पाएगे। फिर वर्तनी (मध्यदेश) में प्रचार पाएगे। फिर उत्तरापथ मे प्रचार पाए गे।" (पृष्ठ २४५)

असग ने इन पारमिताओं का बड़े अच्छे ढग से विवेचन किया है (महायान सूत्रालकार १६।८-१९ १-४)। उनके ख़्याल से पारमिताओं का अभ्यास निर्विकल्प ज्ञान के साथ करना चाहिए। निर्विकल्प ज्ञान से अभिप्राय उस ज्ञान से है जिसमे विकल्प बिल्कुल नहीं है—सन्देह-बुद्धि नहीं है। वह बुद्धि जो धर्मनैरात्म्य तक पहुँच जाती है, 'सब्बे धम्मा अनत्ताति' तक पहुँच जाती है। हर एक पारमिता का एक विरोधी पक्ष भी होता है, हर पारमिता का उद्देश्य होता है। विपक्षों को हटाकर उन उद्देश्यों को पूरा करने से बोधिसत्त्व प्राणियों का हित कर सकता है। प्राणियों का ही हित नहीं अपना हित भी करता है। यद्यपि बोधिसत्त्व का अपना हित कुछ है ही नहीं पर जो परार्थ ही को आत्मार्थ समझता है उसने यदि

परार्थ कर लिया तो वह आत्मार्थ ही है। असग जिसके विषय मे जो कुछ कहा है उसका सार यों है—

पारमिताएं	उनसे प्राप्त अभ्युदय	उनके विपक्ष	उनके उद्देश्य
दान	भोगसम्पत्ति	स्वार्थ	प्राणियों की इच्छापूर्ति
शील	शरीर सम्पत्ति	दूराचार	कायवाक्सयम
क्षान्ति	परिवार सम्पत्ति (=बहुजन-प्रियता)	क्रोध	अपराक्रम।
वीर्य	सर्वकर्मान्त सम्पत्ति (=कार्य मे सफलता)	कौसीद्य (=अकर्मण्यता)	साहाय्य
ध्यान	क्लेशविष्कम्भन (=चित्तशुद्धि)	विक्षेप (चचलता)	मनोरथ (जानना)
प्रज्ञा	कृत्य में अविपर्यास (=कार्य मे भूल न होना)	दुष्प्रज्ञा	सशय निवारण

विशेष सूचना—

उक्त छ पारमिताओं में से प्रथम तीन से बोधिसत्त्व क्रमश त्याग, अनुपघात (=अहिंसा), अनमर्षण (=अक्रोध) द्वारा परार्थ साधन करता है और बाकी तीन से क्रमश उद्योग, शान्ति और मुक्ति के द्वारा आत्मार्थ साधन करता है।

बोधिसत्त्व इन पारमिताओं का अभ्यास करते हुए दान पारमिता के अभ्यास के कारण भोगों के प्रति निरपेक्ष हो जाता है। शील पारमिता के अभ्यास से बोधिसत्त्व को शिक्षाओं मे उसका आदर भाव बढ़ जाता है। शान्ति पारमिता के अभ्यास से प्राणियों और अप्राणियों द्वारा पहुँचाए गए दु.ख से विचलित नहीं होता। वीर्य पारमिता के अभ्यास से पुण्य कर्म करते कभी उसे थकान नहीं आती। ध्यान पारमिता से उसका चित्त एकाग्र हो जाता है—उसे शमथ या शान्ति मिलती है। प्रज्ञा पारमिता के अभ्यास से विपश्यना की प्राप्ति होती है—वह समझता है कि ससार में सभी कुछ अनित्य, दु ख और अनात्म हैं। और यही समूचा महायान है—

भोगेषु चानभिरतिस्तीव्रा गुरुता द्वये अखेदश्च।
योगश्च निर्विकल्प समस्तमिदमुत्तम यानम्॥ महायान सूत्रालकार १६।५

२—ब्रह्मविहार

ध्यान-पारमिता के अभ्यास के लिये जितना एकान्त हो उतना ही अच्छा रहता है। साधक कुछ समय एकान्त में रह कर ध्यान करके अपने चित्त को बहुत कुछ शान्त कर लेता है। पर यदि साधक सदा जंगल में ही रहते अपना जीवन बिता दे तो उससे प्राणिहित नहीं हो सकता। इस लिये उसे दुनिया के भीतर रहते हुए ही साधना करनी होती है। उसे संसार का ही आलम्बन बनाकर बोधि के लिये अभ्यास करना है। संसार के लोग अनेक तरह के हैं। कितने ही लोग साधारण कोटि के हैं जो सुख चाहते हैं। कुछ ऐसे हैं जो दुःख से पीड़ित है और दुःख दूर करना चाहते हैं। कितने ही ऐसे हैं जो सुखी हैं और चाहते हैं कि उनका सुख बना रहे, छिन न जाए। कुछ ऐसे क्लिष्ट या मलिन स्वभाव के हैं कि सब तरह के अकर्म और कुकर्म करते हैं। इन चार तरह के लोगों को देख कर बोधिसत्त्व जिस तरह अपने मनमें भावना करता है उन्हें ही ब्रह्मविहार कहते हैं। ब्रह्म का अभिप्राय बड़े या महान् से है। महान् होने के कारण ही इस भावना को ब्रह्मविहार कहते हैं। इसी ब्रह्मविहार का दूसरा नाम अप्रमाण है। प्रमाण या माप जिनको नहीं हो सकती वे अप्रमाण कहलाते हैं।

ब्रह्मविहार या अप्रमाण चार हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। इनमें मैत्री सुख से योग कराने की भावना है। करुणा दुःख से छुड़ाने की भावना है। मुदिता सुख से अवियोग कराने की भावना है। उपेक्षा निःक्लेशोपसंहार या पाप से छुड़ाने की भावना है। सार यों है—

ब्रह्मविहार	उनके आलम्बन	उनका स्वरूप
१—मैत्री	सौख्यार्थिनि	सुखसंयोगाकारा
२—करुणा	दुःखार्ते	दुःखवियोगाकारा
३—मुदिता	सुखिते	सुखावियोगाकारा
४—उपेक्षा	क्लिष्टे (च ते प्रवर्तन्ते)	निःक्लेशतोपसंहाराकारा

महायान सूत्रालंकार, १७।१७-८

इन ब्रह्मविहारों की भावना करने से जिन आन्तरिक दोषों से छुटकारा मिलता है, उनके विषय में बुद्ध ने कहा है : "मैत्री चेतोविमुक्ति (चित्त की उन्मुक्तावस्था) व्यापाद (दैमनस्य) का निःसरण (निकलने का मार्ग) है। करुणा चेतोविमुक्तिविहिंसा (=हिंसा) का निःसरण है। मुदिता चेतोविमुक्तिअरति (मन के न लगने) का निःसरण है। उपेक्षा चेतोविमुक्ति राग का (कामना, इच्छा का) निःसरण है।" विसुद्धिमग्ग पृष्ठ २१६।

इन ब्रह्मविहारों के अभ्यास से बहुत से लाभ होते हैं। उनका विशुद्ध मार्ग में (पृष्ठ २११-२१३) यों निर्देश है—

१—कितने ही लोग करवटें बदलते रहते हैं, सुख की नींद उन्हें नसीब नहीं होती। पर ब्रह्मविहारी उस तरह करवटें न बदल सुख से सोता है।

२—कितने ही लोगों के जगते समय अङ्ग अङ्ग टूटते रहते हैं। वे जभाई लेते हैं। उनकी तरह न जग कर ब्रह्मविहारी खिले कमल की तरह जगता है।

३—बुरे स्वप्न नहीं देखता।

४-५—मनुष्यों और अमनुष्यों को प्रिय होता है। अमनुष्य किस तरह प्रेम करते है इसका दृष्टान्त भी दिया गया है। उसका उल्लेख भी कम रोचक न रहेगा, क्योंकि पूर्व युग में देवता आज की तरह लापता न हो गए थे और उनके बिना पूर्व युग का मनुष्यजीवन ही अधूरा था। कथा यों है—"विशाख स्थविर पहले पाटलिपुत्र के गृहस्थ थे। बाल बच्चों को धन दौलत दे लंका गए। वहाँ के महाविहार मे दीक्षा ले ली। उन्होंने चित्तल पर्वत पर जाकर चार महीने बिताए और एकदिन सबेरे चलने को तैयार हुए। तब मणिल वृक्ष की देवता रो पड़ी। उन्होंने पूछा क्यों रही हो। उसने कहा तुम्हारे जाने कारण। स्थविर ने पूछा—मेरे यहा रहते तुम्हारा क्या लाभ? उसने कहा, भदन्त! आप के रहते सब लोग एक दूसरे के प्रति मैत्री भाव से रहते हैं। लड़ाई झगड़ा नहीं होता। स्थविर ने कहा, यदि यह बात है तो बहुत अच्छा। चार महीने और रहे। चलते समया देवता बिचारी फिर रो पड़ी। सो, इसी तरकीब से स्थविर को ज़िन्दगी भर वहीं रहना पड़ गया।"

६—देवता रक्षा करते हैं।

७—अग्नि, विष और शस्त्र का असर नहीं होता।

८—चित्त शीघ्र शान्त हो जाता है।

९—चेहरे पर कान्ति आ जाती है।

१०—मरने के समय होश बना रहता है।

११—इस भावना से मुक्त न होने पर भी जैसे मनुष्य सो कर जगता है उसी तरह (आराम से) साधक की ब्रह्म लोक मे उत्पत्ति होती है।

च—बोधिसत्त्वों की विहार भूमियाँ

१—बोधिसत्त्वों का गोत्र और बोधिचित्तोत्पाद

जो प्राणी बोधिसत्त्वों के गोत्र के होते हैं अर्थात् जिनमें बोधि बीज होता है उनकी पहचान करने के उपाय प्राचीन लोगों ने बताए हैं। जिनमे प्राणियों के प्रति स्वभावत: ही

करुणा हो, महायान के सिद्धान्तों में जिनकी श्रद्धा और विश्वास (=अधिमुक्ति) हो, जिनमें क्षान्ति या दूसरों के अपराधों को क्षमा कर देने की आदत हो, पुण्यों (=पारमिताओं) का अभ्यास करने की ओर सहज ही जिनकी रुचि हो; उन्हें बोधिसत्वों के गोत्र का समझना चाहिए।

जिन विघ्नों के कारण प्राणी बोधिसत्वों के गोत्र से पतित हो जाता है, वे चार हैं—

(१) क्लेशों का अभ्यास या पाप करने की आदत।

(२) कल्याण मित्रों का अभाव।

कल्याण मित्र कौन हैं? अष्टसाहस्रिका में कहा है—

सुभूति—"भगवन्, बोधिसत्त्व महासत्त्व के लिये हम किन्हें कल्यणमित्र समझें।"

भगवान्—"जो उन्हें पारमिताओं की शिक्षा देता है, और बतलाता है कि ये मार-दोष हैं इन्हें छोड़ देना चाहिए। उन्हें कल्याण मित्र समझना चाहिए।" (पृष्ठ १७)

मार कर्मों के स्वरूप का अष्टसाहस्रिका में बड़े विस्तार से वर्णन है। उसका एक अंश यों है—

"कोई आकर देवताओं की बड़ी प्रशंसा करेगा। कहेगा कि देवता लोग इस तरह से सुखी हैं। स्वर्ग लोक में इस तरह का सुख है। कामधातु में इस तरह के कामोपभोगों का सेवन करना चाहिए। रूपधातु में इस तरह का ध्यान सुख लेना चाहिए। अरूप धातु में इस तरह का ध्यान सुख भोगना चाहिए। वह सब सुख विचार की दृष्टि से देखें तो दुःख ही दुःख है। उस सुख-दुःख के झंझट से छूट जाएं इसलिये यह समझना चाहिए कि सभी कुछ संस्कृत है—अनित्य है, सभी कुछ भयावह है—दुःख पूर्ण है, त्रैधातुक विश्व शून्य है, सब धर्म अनात्म हैं; सो सभी कुछ आशाश्वत, अनित्य, दुःखरूप, और विपरिणामधर्मक हैं; ऐसा समझ पण्डितों को यही स्रोत आपत्ति फल प्राप्त कर लेना चाहिए, सकृदागामि फल प्राप्त कर लेना चाहिए, अनागामि फल प्राप्त कर लेना चाहिए, यहीं अर्हत् फल प्राप्त कर लेना चाहिए। सुभूति, इसे भी मार का कर्म समझना चाहिए (पृष्ठ २४६)।"

यह छोटा सा उद्धरण भारतीय धर्म के विकास को भी बहुत संक्षेप में बताता है। देवलोकों में सुख के लिये तरह तरह के जतन करना बुद्ध से पहले ही धर्म का लक्ष्य था। बुद्ध ने उसके प्रलोभन छुड़ाकर इस संसार के भीतर अपना दुःख दूर करने के लिये तृष्णा-परित्याग का मार्ग बताया। पर उस मार्ग का यह भाव न था कि लोग प्राणिहित भूल कर कोरी व्यक्तिगत साधना में रम जाएं पर बुद्ध के बाद जब व्यक्तिगत साधना पर ही बड़ा ज़ोर दिया जाने लगा तब उनमें से ही एक दल निकल पड़ा जिसने इस व्यक्तिगत साधना को भी मार-कर्म बताया।

इस तरह महायान में सुख भोग के लिये भटकना या व्यक्तिगत मोक्ष के लिये चिन्तित रहना दोनों ही मार कर्म हैं। केवल प्राणिहित करना ही एक मात्र धर्म है।

(३) उपकरणों की अपूर्णता

(४) पराधीनता

पराधीनता पुराने युग में सब तरह की उन्नति के मार्ग मे बाधक रहती थी। स्त्रियाँ भारत में बहुत पुराने समय से परतन्त्र रहीं है। बुद्ध ने बड़ी हिम्मत करके उन्हे दीक्षा देने का नियम बताया पर सफल नहीं हुए। स्त्रियों की हालत गिरती ही गई। गाजरमूली की तरह वे पुराने वक्त में गुलामी के लिये बिका करती थीं। सामाजिक भोगविलास के लिये उन्हे अपना शरीर बेचना पड़ता था राजा और सेठ लोग उन्हे वेश्या बनाकर रखने में अपनी शोभा समझते थे (बुद्धचर्या २९७)। पुरुषों के लिये वे नमस्कार के योग्य न समझी जाती थीं। सद्धर्म पुण्डरीक में कहा है "स्त्री को ब्रह्मा, शक्र, महाराज, चक्रवर्ती तथा अवैवर्तिक बोधिसत्त्व का स्थान नहीं मिलता (पृष्ठ २६४)।" उस पुराने समय में बौद्ध साधुओं की सहानुभूति स्त्रियों के साथ थी पर वे कुछ कर नहीं सकते थे सिर्फ उनके लिये प्रार्थना (=इच्छा) करते थे कि वे—

सर्वास्त्रियो नित्य नरा भवन्तु शूराश्च वीरा विदुपण्डिताश्च।

ते सर्वि बोधाय चरन्तु नित्य चरन्तु ते पारमितासु षटसु॥ (शिक्षासमुच्चय)

सब स्त्रियां पुरुष हो जाए। वे शूर-वीर पण्डित हों। वे बोधि के लिये आचरण करे। छ. पारमिताओं का अभ्यास करे।

स्त्रियों के अतिरिक्त राजसैनिकों, गुलामों (दासों) और ऋणग्रस्तों की हालत बहुत गिरी थी। ये लोग सब तरह से पराधीन होते थे। इनका उद्धार करना साधुओं के वश की बात न थी। और यदि साधुगण उनके उद्धार का जतन करते तो, वे लोग जो बड़ी सेना रखकर राज्य करते थे, वे लोग जो ग़ुलामों को रख ऐश व आराम उड़ाया करते थे, और वे लोग जो ऋण देकर उस समय शरीर तक मोल ले सकते थे, ज़रूर उनकी खोपड़ी तोड़ डालते। किसी राजसैनिक को साधु बनालेनेवालों के लिये कैसे बरतना चाहिए? "उस गुरु का शिर काट लेना चाहिए, अनुशासक की जीभ निकाल लेनी चाहिए, और गण की पसली तोड़ देनी चाहिए" (विनयपिटक पृष्ठ ११६-११७)। यह बात बुद्ध के शिष्य राजा बिम्बिसार के अधिकारियों ने कहा था। इन्हीं सब बातों के कारण बुद्ध ने नियम बना दिया था कि ऋणी, दास, और राजसैनिक को प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए। पराधीनता किस तरह धर्म-कर्म करने में बाधक रही है यह बात इतने से समझ मे आ सकती है।

जो प्राणी बोधिसत्त्वों के गोत्र के नहीं होते वे कई तरह के हैं। उनमें कुछ लोग एकान्ततया दुश्चरित मे लगे रहनेवाले लोग हैं या वे लोग हैं जिनका कुशलमूल (=पुण्यभाव) उच्छिन्न हो चुका है, या जिनका कुशलमूल मोक्षभागीय नहीं है, या जिनका कुशलमूल इतना कम है कि उन्हे मोक्षमार्ग की ओर नहीं ले जा सकता। ऐसे लोगों को तत्काल-अपरिनिर्वाण-धर्मा कहते हैं, क्योंकि वे वर्तमान मे इस योग्य नहीं कि मुक्ति की ओर बढ सके पर भविष्य में पुण्य सचयकर वे मुक्तिमार्ग के पथिक हो सकते हैं। पर कुछ लोग ऐसे होते हैं सर्वथा हेतुहीन होते हैं। उनमें यह गुण नहीं कि मुक्ति की ओर बढ सके।

बोधिसत्त्वों की चेतना या मानसिक कर्म मे तीन गुण होते हैं। पुरुषकार या पौरुष अथवा उद्योग करने का गुण होता है, जिसके कारण महान् उत्साह और महान् आरम्भ (=तैयारी) से वे कार्य करते हैं। अर्थक्रिया गुण होता है। अर्थक्रिया गुण से अभिप्राय है जो केवल फर्ज़ी या शाब्दिक चीज़ न हो बल्कि वैसी चीज़ हो जो ज़रूरत पूर्ण कर सके। जैसे घट पदार्थ है वह हमारी पानी लाने की जरूरत पूरा करता है, इसलिये अर्थक्रिया से युक्त है पर घटत्व केवल फर्ज़ी चीज़ है उससे हमारा कुछ काम नहीं चलता। अर्थक्रिया गुण के कारण ही वे महार्थ करते हैं। स्वार्थ भी करते हैं, परार्थ भी करते हैं। उसमें फल परिग्रह का गुण होता है। जिससे महोदय अर्थात् महाबोधि की प्राप्ति होती है। यह चेतना दो लक्ष्यों को रखकर उत्पन्न होती है महाबोधि की प्राप्ति के लिये तथा प्राणिहित के लिये उसका जन्म होता है—

महोत्साहा महारम्भा महार्थाय महोदया।
चेतना बोधिसत्त्वाना द्वयार्था चित्तसम्भव ॥ (महायानसूत्रालकार ४।१)

बोधिचित्तोत्पाद अध्यात्मिक विकास के साथ स्वय भी कई अवस्थाओं में विकसित होता है। महायान सिद्धान्त के प्रति अधिमुक्ति (=श्रद्धा और विश्वास) होने के कारण जब वह होता है तब उसे आधिमोक्षिक कहते हैं। उस अवस्था मे अधिमोक्ष की ही प्रधानता रहती है। बाद मे अध्यात्मिक विकास ज्यों ज्यों बढ [illegible] ता है त्यों त्यों अधिमोक्ष की प्रधानता कम हो जाती है। सात भूमियों में वह शु[illegible] यक होता है क्योंकि अध्याशय (अर्थात्, चित्त) की शुद्धता ही प्रधान रहती है। आठवीं भूमि और उस [illegible] की भूमियों में उसे वैपाकिक कहते हैं क्यों उसमें विपाक (=पुण्यकर्मफल) की हा प्रधानता रहती है। बुद्धभूमि में पहुँचकर वह अनावरणिक होता है क्योंकि आवरण उस समय नहीं रह जाता (महायान-सूत्रालका ४।२)। बोधिचित्त उत्पन्न होकर जिस तरह अनेकों भूमियों मे विकसित होता है, उसके लिये भूमियों का परिचय आवश्यक है।

२. विहारभूमियाँ

बोधिसत्त्वों के एकादश विहार या भूमियाँ हैं। पहली भूमि का लक्षण परम शून्यता है क्योंकि धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य की प्रतिष्ठा पहली भूमि मे ही हो जाती है। दूसरी भूमि का लक्षण है कर्मों की अविप्रणाशव्यवस्था अर्थात् यह समझना कि कर्म अपना फल देता ही है, वह बिना फल दिये नष्ट नहीं होता। तीसरी भूमि का लक्षण है अत्यन्त सुख के साथ ध्यान-प्राप्ति, इस भूमि के बाद शरीर छूटने पर काम धातु मे उत्पत्ति होती है। चौथी भूमि में बोधिपाक्षिक धर्मों की लोकहित के लिये परिणामना (=समर्पण) होती है। पाँचवीं भूमि मे चारों आर्य सत्यों के साक्षात्कार के कारण क्लेश रहित चित्त द्वारा सत्त्वों की परिपाचना (अर्थात् प्राणियों के धार्मिक भावों को पुष्ट करना) सम्भव होती है। छठो भूमि मे प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कार के कारण भवोपपत्ति (=ऊर्ध्व लोकों में उत्पत्ति)-विषयक सक्लेशों से अनुरक्षणा (=बचाव) हो जाती है। सातवीं भूमि का लक्षण है एकायन पथ (=अष्टमविहार) से श्लिष्ट (सटा हुआ), अनिमित्त, एकान्तिक मार्ग। आठवीं भूमि का लक्षण है निरभिसस्कार (=वासनाहीन) एव अनिमित्त विहारी (=विषयरूपी निमित्त के बिना हो विहार करनेवाला) होने से बुद्धक्षेत्र को परिशोधना। नवीं भूमि का लक्षण है सत्त्वपाक—(प्राणियों के बोधि बोज को परिपुष्ट करने को)-परिनिष्पत्ति। दसवीं भूमि का लक्षण है समाधि धारणियों की विशुद्धता। अन्तिम भूमि का लक्षण है बोधि-विशुद्धता (महायान सूत्रालकार २०-२१। १०-१४।)

पहली भूमि से लेकर दसवीं भूमि तक के अलग अलग नाम हैं और उन नामों का अपना निर्वचन है—

(१) मुदिता—पहली भूमि में प्राणिहित की साधनभूत बोधि को समोप वर्ती देख बोधिसत्त्व के हृदय मे तीव्र मोद उत्पन्न होता है इसलिये उसे मुदिता कहते हैं।

(२) विमला—दु शीलता के मनसिकार (=मनोभाव) का मल दूसरी भूमि में दूर हो जाता है इसलिये उसे विमला कहते हैं।

(३) प्रभाकरी—समाधि बल से तीसरो में अप्रमाण धर्मों का अवभास प्राप्त होता है इसलिये उसे प्रभाकरी कहते हैं।

(४) अर्चिष्मती—चौथी में क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का दाह हो जाता है। इनके दाहक बोधिपाक्षिक धर्म होते हैं जिन्हे दाहकारक होने के कारण 'अर्चिस्' (=लपट) कहते हैं। इस भूमि में अर्चिया होती हैं, इसी लिये उन्हे अर्चिष्मती कहते हैं।

(५) दुर्ज्या—पाँचवों में सत्वपरिपाक और स्वचित्त रक्षा करते हुए दु ख जीता जाता है, इसलिये उसे दु या कहते हैं ।

(६) अभिमुखी—छठी में प्रज्ञापारमिता के आश्रय के कारण बोधिसत्त्व ससार और निर्वाण दोनों के प्रति अभिमुख होता है, इसलिये उसे अभिमुखी कहते हैं ।

(७) दूरगमा—सातवीं भूमि एकायन पथ से श्लिष्ट होती है जो कि बहुत दूर है, इसलिये उसे दूरङ्गमा कहते हैं ।

(८) अचला—आठवीं भूमि में निमित्त सज्ञा और अनिमित्त मनसिकार (=मनोभाव) सज्ञा से चञ्चलता नहीं रहती, इसलिये उसे अचला कहते हैं ।

(९) साधुमती—नवी में प्रतिसंवित्मति (= विश्लेषण करके अनुभव करनेवाली बुद्धि) की प्रधानता होती है । इस प्रधानता को ही साधु शब्द से कहा जाता है । और इसी के होने के कारण इस भूमि को साधुमती कहते हैं ।

१०—धर्ममेघा—जैसे मेघ आकाश को व्याप्त कर लेता है, वैसे ही दसवीं भूमि समाधि धारणियों से धर्माकाश को व्याप्त कर लेती है, इसलिये उसे धर्ममेघा कहते है । महायान सूत्रालकार २०-२१ । ३२-३८ ।

विविध पुण्यों के निमित्त रतिपूर्वक विहार करने के कारण बोधिसत्त्व की भूमियों को विहार कहते हैं । अमित या अप्रमाण होने के कारण, ऊर्ध्वगमन के कारण, अपरिमित प्राणियों के भय को नष्ट करने के कारण विहारों को भूमि कहते हैं । (२०-२१ । ३९-४०)

३—बोधिसत्त्व की पहचान और बुद्ध का स्वरूप

बोधिसत्त्व की पाँच बातों से पहचान होती है । बोधिसत्त्व की हृदय से प्राणियों के प्रति अनुकम्पा होती है । इसलिये प्रयोग रूप मे वह प्रियाख्यान या प्रिय वचन बोलता है । इससे प्राणियों को बुद्धशासन के प्रति अधिमुक्ति (=श्रद्धा और विश्वास) उत्पन्न हो जाती है । उसमें धीरता होती है जिससे कठिन से कठिन अवसरपर वह खिन्न नहीं होता । उसमे मुक्तहस्तता होती है अर्थात् उसका हाथ खुला होता है, जिससे लोगों को धनदान देने में नहीं हिचकिचाता । उसमें सन्धिनिर्मोक्ष होता है अर्थात् उसके कोई भी गाँठ नहीं रह जाती—सब सशय दूर रहते हैं, इसलिये वह धर्मदेशना ठीक ठीक करता है (२०-२१ । १-२) । इन पाँच बातों द्वारा बोधिसत्त्व लोक सग्रह करता है और प्राणियों के उपकार मे लगा रहता है ।

बोधिसत्त्व इस तरह धर्माचरण करते करते बुद्धत्व को प्राप्त करता है। बुद्धत्व के विषय मे उसका आदर्श बहुत ऊँचा है।

बुद्ध कौन है? १—जिसने परमार्थ (=तथता) का साक्षात्कार कर उसे पालिया है, २—सब भूमियों को जो पार कर चुका है, ३—सब प्राणियों मे जो श्रेष्ठ है, ४—जिसका काम सब प्राणियों को मुक्त करना है, ५—जो असाधारण और अक्षय गुणों से युक्त है और उनके कारण (=गुणरूपी साभोगिक काय के कारण) जिसके लोक मे दर्शन होते है, तथा ६—दर्शन होते हुए भी अपने धर्म काय के कारण जो अदृश्य ही रहता है, वह बुद्ध है—

निष्पन्न परमार्थोऽसि सर्वभूमिविनि सृत ।
सर्वसत्त्वाग्रता प्राप्त सर्वसत्त्वविमोचक ॥
अक्षयै रसमैर्युक्तो गुणैर्लोकेषु दृश्यसे ।
मण्डलेष्वप्यदृश्यश्च सर्वथा देवमानुषै ॥ २०-२१ । ६०-६१

इस प्रकार के उच्चस्थान को प्राप्त करने मे बोधिसत्त्व सब प्रकार के साधनों से सुसज्जित हो पारमिताओं का अभ्यास करता है।

छ—बोधिसत्त्वो की चर्या के मर्मस्थान

बोधिसत्त्व की साधना ससार के भीतर रहकर होती है। अपनी साधना से वह सांसारिक लोगों को प्रभावित करता है। और ऐसा करने के लिये उसे ससार मे बहुत फूक फूक कर चलना पड़ता है, क्योंकि उसे इस बात का ख्याल रहता है कि लोगों के मन पर उसकी तरफ से कोई बुरा प्रभाव न पड़े, लोग उसे उलटा न समझ ले, लोग उसे अपना हितकारी और सन्मार्ग पर ले चलनेवाला समझकर कहीं अपकारी और असन्मार्ग पर ले चलनेवाला न समझ बैठें। इन बातों का ख़्याल रखकर उसे कितनी ही बाते ऐसी भी करनी पड़ती हैं जिनका मतलब सिर्फ लोगों को प्रसन्न रखने के लिये ही होता है। इस तरह की कितनी ही बातों की कथा विनयपिटक में आई है। एक यों है—

"बड़ी भारी परिषद् से घिरे धर्मोपदेश करते भगवान् ने छींका। भिक्षुओं ने 'भन्ते, भगवान जीते रहे, सुगत जीते रहें' का महान् शब्द किया। तब भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया—'भिक्षुओ छींकने पर "जीते रहे" कहने से क्या उसके कारण पुरुष जिएगा, मरेगा?' 'नहीं भन्ते।' 'भिक्षुओ, छींकने पर "जीते रहें" नहीं कहना चाहिए।

उस समय भिक्षुओं के छींकने पर लोग "जीते रहे भन्ते!" कहते थे। भिक्षु नहीं

बोलते थे। लोग हैरान होते थे 'कैसे शाक्य पुत्रीय श्रमण छींकने पर "जीते रहे भन्ते" कहने पर नहीं बोलते।'—भगवान् ने यह बात कही—

"भिक्षुओ, गृहस्थ मांगलिक होते हैं। भिक्षुओ, अनुमति देता हूँ, गृहस्थों के "जीते रहे भन्ते!" कहने पर "चिरजीव" कहने की।" पृष्ठ ४४६

इस तरह लोकसग्रह के ख्याल से कितनी ही बाते बोधिसत्त्वों को करनी पड़ती हैं और उसे अपने उद्देश्य पर भी बहुत सावधान रहना पड़ता है। महायान के सूत्रग्रन्थों मे तथा विनय पिटक मे इस तरह की बाते बहुत विस्तार से कही गई है पर वे बाते इतनी अधिक और इतने प्रकार की हैं कि उन सब का याद रखना आसान काम नहीं। इसलिये बहुत ज़रूरी है उसमे से कुछ सार चुन लिया जाए जिससे अभ्यास करनेवालों को सरलता हो। शान्तिदेव ने अपने शिक्षासमुच्चय मे इस तरह की सारभूत बातों का बहुत सक्षेप मे निर्देश किया है तथा सूत्रों के उद्धरण देकर उनका खूब विस्तार भी किया है। सत्ताईस श्लोकों (कारिकाओं) के भीतर उन्होंने सब सारभूत बाते कह डाली है उनका ज़िक्र करना यहा बहुत ठीक रहेगा।

बोधिसत्त्व सोचता है कि भय और दुख न तो मुझे ही प्यारा है और न दूसरों को ही। फिर भला मुझमें कौन सी विशेषता है जो मैं दूसरों की तो रक्षा नहीं करता पर अपनी रक्षा में लगा रहता हूँ। दुख का अन्त करने और सुख का छोर पाने की इच्छा से श्रद्धा की मूल को दृढ़ करके बोधि पाने के लिये दृढ यत्न करना चाहिए। कारिका १-२

बोधिसत्त्वों के कर्तव्य सक्षेप मे यों हैं—

अ—१—आत्मभाव (शरीर और मन) की रक्षा।
२—भोगों की रक्षा।
३—त्रैकालिक पुण्य की रक्षा।
इ—४—आत्म भाव की शुद्धि।
५—भोगों की शुद्धि।
६—त्रैकालिक पुण्य की शुद्धि।
उ—७—आत्मभाव का वृद्धि।
८—भोगो की वृद्धि।
९—त्रकालिक पुण्यों की वृद्धि।

रक्षा शुद्धि और वृद्धि का उद्देश्य है उनका प्राणिहित के लिये उत्सर्ग कर देना। यदि इनकी रक्षा न का गई तो भोग सम्भव ही कहाँ, जब भोग ही नहीं तब दिया क्या जा सकेगा। (कारिका ४-६) इसलिये प्राणियों को भोगप्राप्ति हो सके, सिर्फ इस ख्याल से इनकी रक्षा बहुत

ज़रूरी है। रक्षा करने में सूत्रों के अध्ययन से तथा कल्याण मित्रों को संगति से बहुत सहायता मिलती है।

१. आत्मभाव की रक्षा

अनर्थ या दुष्कर्मों का परित्याग कर देना ही आत्मभाव को रक्षा है। प्राणिमात्र की सेवा को छोड़कर सब दूसरे कार्य निष्फल हैं और उन निष्फल कार्यों के त्याग से ही मनुष्य अपनी पूरी रक्षा कर पाता है। स्मृति या जागरूकता से इस अनर्थ का त्याग पूर्णतया सिद्ध हो पाता है। स्मृति उत्कट आदर या श्रद्धा से होती है। श्रद्धा ज्ञानसहित उत्साह से उत्पन्न होती है जो शम या शान्ति की महान आत्मा है। समाहित पुरुष को यथार्थ ज्ञान हुआ करता है और इस ज्ञान के कारण बाह्यचेष्टाओं के रुक जाने से मन शान्ति से विचलित नहीं होता।

बोधिसत्त्व को चाहिए कि सर्वत्र शान्त रहे, धीमो धीमो परिमित और स्नेहभरी बातों से सज्जनों का मन नरम बनाए रहे। ऐसा करने से लोग उसे चाहते हैं, किंच लोक में उस जिनाङ्कर (=बोधिसत्त्व) को नहीं चाहता वह राख से दबी नरकों को आग में पचता रहता है। बोधिसत्त्व को चाहिए कि जिन बातों से लोग असन्तुष्ट हों उनका यत्न के साथ परित्याग कर दे।

भैषज्य (मांस, मछली नहीं) और वस्त्र से ही यह आत्मभाव की रक्षा करनी होती है। भोगों का सेवन भी शरीर रक्षा के लिये ही करना होता है, तृष्णा को पूर्ति के लिए नहीं। भोग में तृष्णा रखने से क्लिष्टापत्ति होती है—बड़ा पाप लगता है।

बोधिसत्त्वों को प्राणिहिंसा से लब्ध मांस खाना सर्वथा मना है। लंकावतार सूत्र के मांसभक्षण परिवर्त में कहा है—

> लाभार्थं हन्यते प्राणी मांसार्थं दीयते धनम्।
> उभौ तौ पापकर्माणौ पच्येते रौरवादिषु॥

लाभ के लिये (कसाई) प्राणी को मारता है। मांस के लिये लोग उसे धन देते हैं। वे दोनों ही पापकर्मा हैं और रौरव आदि नरकों में पचते हैं।

> वक्ष्यन्त्यनागते काले मांसादा मोहवादिनः।
> कल्पिकं निरवद्यं च मांसं बुद्धानुवर्णितम्॥

आगे चलकर मांसखानेवाले अज्ञानी लोग कहेंगे कि बुद्ध ने मांस को विहित कहा है—अनिन्दित कहा है।

त्रिकोटिशुद्ध मास वै अकल्पितमयाचितम् ।
अचोदित च नवास्ति तस्मान्मास विवर्जयेत् ॥

त्रिकोटि परिशुद्ध अर्थात् अदृष्ट, अश्रुत, और अपरिशकित मास भी बिना पकाए (=अकल्पित) बिना मागे (=अयाचित) और बिना प्रेरणा के नहीं होता। इसलिये मास का त्याग करना चाहिए।

प्राचीन युग मे भारत के लोगों मे मास खाने का बहुत रिवाज था, विशेषकर आर्यों में —उन लोगों मे जो अपने को बड़ा समझते थे। माँस खाने के लिए प्राणिहिसा करना बहुत कुछ उनकी विशेषता समझी जाती थी। इस विशेषता की ओर इशारा करते बुद्ध की गाथा है—

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्ब पाणानं अरियोति पवुच्चति ॥ धम्मपद १९।२२

प्राणिहिंसा करने से कोई आर्य नहीं होता। जो किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता वही आर्य कहलाता है।

उस समय के श्रमण लोग प्राणिहिसा न करने पर बहुत ज़ोर देते थे पर उस समय का समाज इतना अधिक मासाहारी था कि साधुओं को—श्रमणों को, जिनका निर्वाह भिक्षा पर ही होता था, मास से बच सकना बहुत करके सम्भव न था। इसलिये साधुगण भिक्षा में मिले मास को प्राणयात्रा के लिये स्वीकार कर लेते थे। सिर्फ इतना वे ख़्याल रखते थे कि खास तौर पर उन्हे मास खिलाने के लिये किसी प्रकार की जीवहिंसा न हो। उस समय बस इतना कर लेना ही बहुत बड़ा आचार था। यद्यपि उस समय भी कितने ही लोग ऐसे भी ज़रूर रहे होंगे जो बिल्कुल मास के ग्रहण के पक्ष में न हों, पर बुद्ध का विचार इस विषय में बहुत व्यावहारिक था, वे सिद्धान्ततया प्राणिहिसा के विरोधी थे पर समय की गति को देखते हुए वे यह ठीक न समझते थे कि अपने अनुयायियों को कठिनाई में डालें। उस समय मास-मछली का सर्वथा परित्याग भिक्षा मागकर निर्वाह करनेवालों के लिये असम्भव ही नहीं, किन्तु गृहस्थों को भी कठिनाई मे डालनेवाला था। गृहस्थ इतने आचारी न थे कि स्वय मास-मछली रहित भोजन करते, फलत. उनके लिये यही सरल था कि जैसा वे स्वय खाते वैसा ही दान भी देते। बुद्ध और भिक्षु संघ ने गृहस्थों पर कभी इस बात का ज़ोर नहीं डाला कि उन्हे यह खाने के लिये चाहिए, वह खाने के लिये चाहिए। जो कुछ गृहस्थ उन्हे अर्पित करते वे मौनभाव से स्वीकार कर लेते थे और इसलिये उनका अतिथि सत्कार करते गृहस्थों को बिल्कुल दिक्कत न होती थी। बुद्ध के अन्तिम दिनों में चुन्द नामक उपासक ने सूकर मद्दव (सुअर का मास) खिलाया था। उससे बुद्ध को रक्तातिसार हो गया और वही बुद्ध का अन्तिम भोजन रहा।

बुद्ध के समय मास-मछली का परित्याग सम्भव न था और बुद्ध उस कठोर जीवन के पक्षपाती न थे जिसमे मनुष्य अपने शरीर को ही खो बैठे। यद्यपि उस युग मे कठोर तपस्वी बहुत थे जो नगा रहकर भी अपने त्याग की पराकाष्ठा दिखाया करते थे। इन सब बातों को बुद्ध बहुत बेकार समझते थे। भिक्षुसघ मे कितने ही सनकी लोगों ने सद्भावपूर्वक कठोर तापस व्रतों को प्रवेश करना चाहा था पर बुद्ध ने उन्हे मना कर दिया था। बुद्ध के शिष्यों मे देवदत्त ने इस तरह की बातों को संघ मे इसलिये घुसेड़ने की चेष्टा की कि बुद्ध जब इन बातों को मना कर देगे तब लोगों में इस बात का प्रचार करेगे कि बुद्ध और उनके अनुयायी उतने तपस्वी नहीं हैं जितने हम। और इस तरह बुद्ध के सघ को छिन्न भिन्नकर कितने ही आदमियों को अपनी ओर मिला खुद एक नया सघ बनाकर उसकी महन्ताई करेगे। विनयपिटक मे उसकी चर्चा है—

"देवदत्त जहा कोकालिक कटमोरतिस्सक और खण्डदेवीपुत्र समुद्रदत्त थे, वहा गया। जाकर बोला—

'आओ आवुसो, हम श्रमण गोतम का सघ-भेद करे। आओ...हम श्रमण गोतम के पास चलकर पाँच वस्तुए मांगे। (१) भिक्षु ज़िन्दगी भर आरण्यक रहे, जो गाव बसे, उसे दोष हो। (२) ज़िन्दगी भर पिण्डपातिक (=मधुकरी वृत्ति से) रहे, जो निमन्त्रण खाए, उसे दोष हो। (३) ज़िन्दगी भर पासुकूलिक रहे, जो गृहस्थ के दिए चीवर का उपभोग करे, उसे दोष हो। (४) ज़िन्दगी भर वृक्षमूलिक रहे, जो छाई जगह में जाए, उसे दोष हो। (५) ज़िन्दगी भर मछली-मास न खाए, जो मछली मास खाए, उसे दोष हो। श्रमण गोतम इसे नहीं स्वीकार करेगा। तब हम इन पाँच बातों से लोगों को समझाएँगे।'...

तब देवदत्त परिषद्सहित जहा भगवान् थे, वहा गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर, एक ओर बैठा। एक ओर बैठे देवदत्त ने भगवान् से कहा—'अच्छा हो भन्ते (१)... .. (२) .. .. (३) . .(४) . (५) .. ... ।'

'देवदत्त, जो चाहे आरण्यक रहे, जो चाहे ग्राम मे रहे। जो चाहे पिण्डपातिक हो, जो चाहे निमन्त्रण खाए। जो चाहे पासुकूलिक हो, जो चाहे गृहस्थ के दिए चीवर को पहने। देवदत्त आठमास (बरसात को छोड़) मैंने वृक्ष के नीचे वास की अनुज्ञा दी है। अदृष्ट, अश्रुत, और अपरिशकित, इन तीन कोटि से परिशुद्ध मास की भी मैंने अनुज्ञा दी है।... ..'

तब देवदत्त परिषद्सहित राजगृह मे प्रवेश कर उन पाँच बातों को ले लोगों को समझता था कि 'आवुसो, हमने श्रमण गोतम के पास जो पाँच बातों की याचना की ... .. इन पाँच बातों की श्रमण गोतम अनुमति नहीं देता।' वहाँ जो आदमी अश्रद्धालु....... .थे

वह ऐसा बोलते थे—यह श्रमण अवधूत है, श्रमण गौतम बटोरू है, बटोरने के लिये चेताता है। और जो मनुष्य श्रद्धालु थे वह हैरान होते थे—'कैसे देवदत्त भगवान् के संघ मे भेद के लिये कोशिश कर रहा है' (पृष्ठ ४८८ ४९)।

बुद्ध के बाद और विशेषरूप से अशोक के अनन्तर धीरे धीरे मास भोजन का रवाज कम होता गया। वह मिटा तो नहीं पर धार्मिक लोगों के लिये मास-परित्याग एक आचार बन गया। जब कि बुद्ध से पहले के युग में धार्मिक ऋषियों का प्रधान भोजन ही मास था और इस मासाहार की बाते बहुत बाद तक लोगों को न भूलीं। भवभूति ने अपने नाटकों में उस पुराने रवाज की याद को ताज़ा करने की कोशिश की है। रूठे परशुराम को मनाते हुए वशिष्ठ और विश्वामित्र ने कहा—

सज्ञप्यते वत्सतरी सर्पिष्यन्न विपच्यते।
श्रोत्रिय श्रोत्रियगृहान आगतोऽसि जुषस्व न ॥

[श्रोत्रिय, श्रोत्रियों के घर पर आए हो। (खूब) खुश होओ। बछिया मारी जा रही है। घी में अन्न पकाया जा रहा है (वीरचरित ३।२)।]

बाल्मीकि के आश्रम में वशिष्ठ के सत्कार का भी इस तरह वर्णन है—

सौधातकि—"इस मेहमान का क्या नाम है जो औरतों के बड़े क़ाफिले के साथ आया है।"

दाण्डायन—"छि· (सब जगह) मज़ाक! ..भगवान् वशिष्ठ आए हैं।...

सौधातकि—"हूँ, वशिष्ठ!"

दाण्डायन—"और नहीं क्या?"

सौधातकि—"मैंने समझा था कि कोई बाघ या भेड़िया है।"

दाण्डायन—"हः, यह कैसे कहते हो।"

सौधातकि—"क्योंकि इसके आते ही कपिला...मड़मड़ा डाली गई।"

दाण्डायन—" . गृहस्थ लोग घर पर आए श्रोत्रिय के लिये बड़ा बैल या बड़ा बकरा मारते हैं। धर्मसूत्रकारों ने उसे धर्म कहा है" (उत्तरचरित अंक ४)।

इस तरह पुराने जमाने की याद भले ही होती रही हो पर परवर्ती युग में मांस-मछली के सेवन का धार्मिकों ने पूरे तौर पर बहिष्कार किया। लंकावतार का मांस-भक्षण परिवर्त उसी आन्दोलन का सूचक है। त्रिकोटिपरिशुद्ध मांस सेवन की बुद्धानुज्ञा को मानना उस समय बुद्ध के आदर को कम करना था, क्योंकि जिस समय सूत्र की रचना हुई वह समय ऐसा ही था कि जब धार्मिकों में से मांस भोजन बहुत कुछ लुप्त हो गया था। इसलिए धार्मिक लोगों

के लिये यह सम्भव न था कि वे मान लेते कि बुद्ध ने मांसाहार की अनुज्ञा भी दी थी। और यदि मान भी लेते तो उनके लिये यह समझना मुश्किल था कि बुद्ध धर्मात्मा साधु थे। फलतः यही एक उपाय था कि यह स्वीकार कर लिया जाए कि बुद्ध ने त्रिकोटिशुद्ध मांसाहार की अनुज्ञा दी ही नहीं। और जो लोग उन्हें उस तरह की अनुज्ञा देने वाला मानते हैं उन्हें मांस-लोलुप और अज्ञानी कह दिया जाए।

(२) भोगरक्षा

उपायों को जान कर पुण्य करने से भोगों की रक्षा होती है।

(३) पुण्यों की रक्षा

अपने लिये फल की तृष्णा न रखने से पुण्यों की रक्षा होती है।

पुण्य करके कभी पछतावा न करना चाहिए कि मैंने यह क्यों किया, न करता तो भी क्या बिगड़ा जाता था। पुण्य करके उसका ढिंढोरा भी न पीटना चाहिए। बोधिसत्त्व को चाहिए कि लाभ और सत्कार से डरता रहे। अभिमान का त्याग कर दे। प्रसन्न रहे। धर्म के विषय में अविश्वास छोड़ दे।

(४) आत्मभाव की शुद्धि

आत्मभाव के शुद्ध हो जाने पर भोग उसी तरह पथ्य (=हितकर) होता है जैसे देह धारियों के लिये पका भात, जिसमें किनकी नहीं रहती, हितकर होता है। तृणों से ढकी खेती जैसे रोगों से क्षीण हो जाती है, फलती फूलती नहीं, वैसे क्लेशों से ढका बुद्धांकुर नहीं बढ़ता। पापरूपी क्लेशों का शोधन करना ही आत्मभाव की शुद्धि है। बुद्ध वचनों का सार समझ उसके अनुसार यत्न न करने से मनुष्य को दुर्गति भुगतनी पड़ती है। क्षमाशील रहना चाहिए। शास्त्र सुनना चाहिए। वन का आश्रय ले समाधि के लिये यत्न करना चाहिए। वैराग्य प्राप्ति के लिये संसार के प्रति अशुभबुद्धि रखनी चाहिए।

(५) भोगों की शुद्धि

अच्छी तरह आजीविका की शुद्धि कर लेने से भोगों की शुद्धि होती है।

बौद्ध आचार अहिंसा पर निर्भर है। जिस जीविका में प्राणिहिंसा या परपीड़न करना पड़ता हो वह सम्यग् जीविका नहीं है।

(६) पुण्यों की शुद्धि

शून्यता दर्शन के साथ करुणा पूर्ण कार्यों से पुण्य की शुद्धि होती है।

(७) आत्मभाव की वृद्धि

चीज़ यदि थोड़ी हो तो उसके देने से किसी की तृप्ति नहीं हो सकती। इसलिये उसे बढ़ाने की ज़रूरत होती है। बल और अनालस्य का बढ़ाना ही आत्मभाव की वृद्धि है।

(८) भोगों की वृद्धि

शून्यता दर्शन सहित दान से भोगों की वृद्धि होती है।

(९) पुण्यों की वृद्धि

आरम्भ से ही दृढ़ संकल्प और दृढ़ चित्त से, करुणा भाव से पुण्यों की वृद्धि करना चाहिए।

भद्रचर्या विधि को आदरसहित करना चाहिए। वन्दना, पापदेशना, पुण्यानुमोदना और अध्येषणा का नाम भद्रचर्या है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा बलों का अभ्यास करना चाहिए। चारों ब्रह्मविहारों की भावना करनी चाहिए। बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, शीलानुस्मृति और देवानुस्मृति रखनी चाहिए।

सब अवस्थाओं में निरामिष धर्मदान और बोधिचित्त पुण्य वृद्धि के कारण है। चार सम्यक् प्रधानों द्वारा प्रमाद न करने से, स्मृति और सम्प्रजन्य तथा गम्भीर चिन्तन से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।

प्राणिमात्र के लिये उत्सग करने के ख़्याल से ही आत्मभाव, भोग और पुण्यों की रक्षा बोधिसत्त्व करता है। इस तरह की पूर्ण उत्सर्ग भावना का प्रचार महायान से पूर्ववर्ती किसी सम्प्रदाय ने नहीं किया। अपने अपने आराध्य देवताओं के प्रति पौराणिक सम्प्रदायों में यह उत्सर्ग भावना ज़रूर देखी जाती है पर प्राणिमात्र के लिये नहीं। बोधिसत्त्व प्राणिमात्र की आराधना को ही बुद्ध की आराधना समझता है—

आराधनायाद्य तथागताना सर्वात्मना दास्यमुपैमि लोके।
कुर्वन्तु मे मूर्ध्नि पद जनौघा विघ्नन्तु वा तुष्यतु लोकनाथ ॥

आज तथागतों की आराधना के लिये सर्वात्मभाव से लोक-दासता स्वीकार करता हूं। जनता चाहे मेरे माथे पर पैर रक्खे चाहे मुझे मारे। (इस लोक-सेवा से) लोकनाथ प्रसन्न हों।

बस, यही तथागत की आराधना है। इसीमें में अपने स्वार्थ की भी सम्यक् साधना है। ससार का दुःख दूर करनेवाला मार्ग यही है। इसलिये मेरा व्रत भी यही हो—

तथागताराधनमेतदेव
स्वार्थस्य ससाधनमेतदेव
लोकस्य दु खापहमेतदेव
तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव।

३. महायान के धार्मिक विश्वास

क—साधना को उच्चतम प्रतीक के रूप मे बुद्ध का विकास

१ बुद्ध का मानव रूप

कोसल जनपद के उत्तर शाक्य और कोलिय जनों के दो गणराज्य थे। इन दोनों के बीच रोहिणी नदी बहती थी। पूरब की ओर कोलियों का और पच्छिम की ओर शाक्यों का राज्य था। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु (गोरखपुर ज़िले, नेपाल को तराई में आज खंण्डहर के रूप में) थी और कोलियों की देवदह। शाक्यों के राजा शुद्धोधन की दो रानिया मायदेवी, और प्रजापति थीं। दोनों ही कोलियगण को कुमारियाँ थीं। एक बार मायादेवी अपने मैके जा रहीं थीं। रास्ते मे लुम्बिनी नामक शालवन में वैशाखपूर्णिमा के दिन कुमार की उत्पत्ति हुई। उनका नाम सिद्धार्थ गोतम रक्खा गया। सिद्धार्थ की मा सात दिन के बाद परलोक सिधार गई। उनका पालन उनकी मौसी प्रजापती ने किया।

सिद्धार्थ अपने पिता की बुढ़ापे की इकलौती सतान थे। इसलिये उनको खूब लाड़ प्यार से पाला गया। लाड़ प्यार में पलते हुए भी बचपन से उनका भुकाव वैराग्य की ओर था। इस ख्याल से उनका पुत्र कहीं साधु न बन जाए, पिता ने अठारह बरस की आयु में ही कोलियगण की एक रूपवती कुमारी यशोधरा से विवाह कर दिया। यशोधरा ने कुमार को अपने प्रेम में काफी दिनों तक व्यस्त रक्खा पर उनकी वैराग्य-वृत्ति नष्ट न हुई। समय बीतते बीतते उनके सन्तान भी हुई जिसका नाम उन्होंने चिढ़कर राहुल (=वैराग्य वृत्ति को ग्रसनेवाला राहु) रक्खा। वृद्ध, रोगी, और मृत को देख उन्हे ससार से बहुत विरक्ति हो गई। बाद में प्रव्रजित को देख उन्होंने स्वय प्रव्रजित होने की ठान ली। उनतीस बरस की आयु में उन्होंने चुपके से घरबार छोड़ दिया। इसीको उनका महाभिनिष्क्रमण कहते हैं। इसके बाद वे अनेक साधुसन्तों से मिले। आलारकालाम और उद्रक रामपुत्र ने उनको अपनी योग साधना की बाते बताईं। छः बरस तक योग और अनशन की उन्होंने भीषण तपस्या की। इस तपस्या मे उनके अनुगामी पचवर्गीय भिक्षु भी थे। इस कठोर तप से उनका शरीर दुर्बल हो गया पर और कुछ भी हाथ न लगा। अन्त में उन्होंने इस मार्ग को ठीक न समझ त्याग दिया। भोजन करना आरम्भ कर दिया। पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने उन्हें तप से डरा समझकर साथ छोड़ दिया और वाराणसी चले गए।

भोजन करना शुरू करने पर उन्हें सुजाता नामक (बुद्धगया के पास के गाँव की) युवती ने पायस खिलाया। वह पायस बुद्ध के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में से है। क्योंकि उस पायस खाने के बाद ही बुद्ध ने बोधि प्राप्त की थी। अपनी आयु के छत्तीसवें वर्ष वैशाख-पूर्णिमा को उन्हें बोधिप्राप्त की और उसी वर्ष उन्होंने वाराणसी जाकर इसिपतन मिगदाव (=सारनाथ) में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन उपदेश दिया और कहा—कामभोग और बेकार की आत्मपीड़ा इन दो अन्तों (=किनारों) का सेवन प्रव्रजितों को न करना चाहिए। चारसत्यों का रास्ता इन दोनों किनारों के बीच का रास्ता है जिसे मध्यमा-प्रतिपदा कहते हैं। बाद में सारनाथ रहते रहते ही उनके शिष्यों की संख्या साठ हो गई। उन साठ शिष्यों को बुद्ध ने सन्देश दिया कि—बहुजनहिताय अर्थात् बहुत लोगों के हित के लिये घूमो। कोई भी दो भिक्षु एक तरफ न जाओ।" और स्वयं भी चारिका के लिये चल पड़े और निरन्तर पैंतालीस वर्ष भ्रमण कर अपना सन्देश लोगों को देते रहे। सिर्फ बरसात के चार महीने वे एक जगह रहते थे। उनके अनुयायियों ने भी यही किया। बुद्ध को बड़े योग्य और विद्वान् राजा एवं धनी शिष्य मिले। गया की तरफ के बड़े कर्मकाण्डी काश्यपबन्धु, राजगृह के पास के शारिपुत्र मौद्गल्यायन उनके शिष्य हो गए। छप्पन बरस की आयु में जब बुद्ध को एक सेवक की ज़रूरत पड़ी तो शारिपुत्र ने कहा था मैं आप की सेवा करूँगा। इस पर बुद्ध ने उनसे कहा था—"नहीं शारिपुत्र, जिस दिशा में तू विहरता है, वह दिशा मुझसे अशून्य होती है। तेरा धर्म-उपदेश बुद्धों के धर्म-उपदेश के समान है। इसलिये मुझे तेरे उपस्थापक (बनने) से काम नहीं है (बुद्धचर्या पृष्ठ ३३६)। बाद में बुद्ध के सजातीय आनन्द ने बुद्ध की सेवा का भार लिया और अन्त तक छाया की तरह से रहे। बुद्ध के शिष्यों में नाई उपालि प्रधान विनयधर माने जाते थे। जीवन के अन्तिम दिनों में आनन्द के साथ चारिका करते मल्लों के देश में घूमते पावा पहुँचे। बुद्ध के शरीर में अधिक बल लाने के ख्याल से चुन्द लोहार ने उन्हें शूकरमद्दव खिलाया पर पच न सका। बुद्ध को बड़ा क्लेश हुआ। उसी दशा में चारिका करते वे कुशीनगर पहुँचे और वहाँ अस्सी बरस की आयु में वैशाखी पूर्णिमा के दिन उनका परिनिर्वाण हो गया। अपने परिनिर्वाण से पहले चुन्द का ख्याल रख बुद्ध ने आनन्द से कहा था कि "चुन्द के मन में यह कोई शंका न डाले कि उसके भोजन से बुद्ध का परिनिर्वाण हो गया। मेरे लिये उसका भोजन और सुजाता का भोजन एक समान है।"

बुद्ध के जीवन में ही लोग उनमें लोकोत्तर शक्तियाँ मानने लगे थे। बुद्ध को जब लोगों ने सर्वज्ञ कहना शुरू किया तो बुद्ध ने कहा था कि यह उनकी निन्दा है। पर बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद बुद्ध के जीवन के साथ लोकोत्तर और चमत्कारी बातें जुड़ती रहीं। उनकी

संख्या इतनी अधिक है कि उनके मानव जीवन को लोकोत्तर जीवन से अलग करना ही कठिन है। फिर भी बौद्ध साहित्य को ध्यान से देखें तो जान पड़ता है कि साहित्य का जो अंश जितना पुराना है उसमें उतनी ही कम लोकोत्तर बातें हैं। महायान सूत्रों में मानव बुद्ध का पता नहीं है। सर्वत्र लोकोत्तर चमत्कारों की भरमार है। हीनयान में अट्ठकथाओं अर्थात् पालित्रिपिटक की टीकाओं में खूब चमत्कार भरे पड़े हैं पर तुलना में महायानसूत्रों की अपेक्षा वे कुछ भी नहीं है। विनयपिटक में अट्ठकथाओं (टीकाओं) से चमत्कार कम और सूत्र पिटक मे उससे भी कम। बुद्ध का मानवीय स्वरूप बहुत कुछ सूत्रपिटक से ही मालूम होता है। महायान सूत्रों में बुद्ध का स्थान इतना अधिक अलौकिक हो उठा है कि मानवीय जीवन के चिह्न ढूंढने पर भी नहीं मिलते। पर हीनयान सूत्रों में बुद्ध का मानव रूप साफ दिखाई पड़ता है। वहाँ बुद्ध महापुरुष के रूप में हैं। मानवजीवन-सुलभ सभी बातें उनके साथ जुड़ी हैं। वे भिक्षा के लिये जाते हैं एक अभिमानी ब्राह्मण 'वृषल' कह कर उन्हें फटकार देता है। कितने ही लोग आदर करते हैं। पर उनके आदर को न सहनेवाले लोग भी है। वे उन पर मिथ्यारोप करते हैं। इसी तरह के आदमियों ने क्या किया उसकी एक कहनी यों है—

"चिचा एक बहुत सुन्दर परिव्राजिका थी। तैर्थिकों ने उसे सिखाया कि तू किसी तरह श्रमण गोतम को बदनाम कर। चिचा ने उनकी बात मानकर जेतवन की ओर जहां बुद्ध रहते थे शाम को तब जाती, जब बुद्ध के उपासक बुद्ध के दर्शन कर लौटा करते थे। वह जेतवन न जाकर जेतवन के समीप तैर्थिकाराम में रहकर वहां से सबेरे तब लौटती जब बुद्ध के दर्शन के लिये लोग जेतवन जाने लगते थे। रोज़ाना उसे आते जाते देखकर उन्होंने पूछा—'तू कहाँ शाम को जाकर सबेरे लौटा करती है। पहले तो वह यह कहकर टालती रही कि तुमसे क्या मतलब मैं कहीं जाती होऊं, पर बाद में कहने लगी कि मैं श्रमण गोतम के पास एक ही कुटी में वास करके लौटी हूँ। बाद में एक दिन उसने लकड़ी की एक मण्डलिका पेट पर बाँध जेतवन में गई और सब लोगों के सामने बुद्ध से कहा—'श्रमण, मेरा गर्भ पूरा हो गया है, आप मेरे लिये कुछ प्रबन्ध क्यों नहीं कर देते।' बुद्ध ने सुना और इतना ही कहा 'बहन, मेरे तेरे की बीच की बात मैं और तू ही जान सकते हैं। दैवयोग से वह मण्डलिका उसके पेट से गिर पड़ी और लोगों को मालूम हो गया कि वह सब छल था।"

बुद्ध के अस्सी बरस के जीवन के बीच बुढ़ापे में उनके शरीर का क्या हाल था? जरासुत्त में यों चर्चा है—

एक समय भगवान् श्रावस्ती में मृगारमाता के प्रासाद पूर्वाराम में विहार कर रहे थे। उस समय भगवान् अपराह्णकाल मे ध्यान से उठकर पिछवाड़े धूप में बैठे थे। तब आयुष्मान्

आनन्द जहा भगवान् थे, वहा गए। जाकर भगवान् को अभिवादन कर भगवान् के शरीर को हाथ से मींजते हुए, बोले—'भगवान् की त्वचा का रग उतना परिशुद्ध, उतना पर्यवदात (उज्ज्वल) नहीं है। गात्र (=अग) शिथिल हैं। मुर्रियाँ पड़ी हैं। शरीर आगे की ओर झुका है। इन्द्रियों में भी विकार (=अन्यथात्व) दिखाई पड़ता है—चक्षु इन्द्रिय में भी विकार दिखाई पड़ता है। श्रोत्र इन्द्रिय में भो विकार दिखाई पड़ता है। घ्राण इन्द्रिय में भी विकार दिखाई पड़ता है। जिह्वा इन्द्रिय में भी विकार दिखाई पड़ता है। काय इन्द्रिय में भी विकार दिखाई पड़ता है।' 'आनन्द, यह ऐसा ही होता है। यौवन में जराधर्म है। आरोग्य में व्याधिधर्म है। जीवन में मरण धर्म है।

इस तरह के मानवरूप को छाया हीनयान सुत्रों में है ज़रूर पर अलौकिता से ढकी हुई है।

२—बुद्ध के जीवन मे चमत्कार और पूर्वजन्म की कथाए'

प्राचीन युग में महापुरुषों के बारे में चमत्कारी बातों का होना कुछ अचरज की बात नहीं हैं। बुद्ध के साथ इतनी अधिक चमत्कारी बाते जुड़ी हैं कि उनकी चर्चा काफी बड़े ग्रन्थ का विषय है। यहाँ सिर्फ एक घटना का ज़िक्र करना है। पंतालीस बरस के धर्म प्रचार के जीवन मे बुद्ध चौमासा भर एक जगह ठहरा करते थे। बरसात के दिनो मे वह कहां कहां रहे ? पूरी सूचि यों है—

वर्षावास	स्थान	वर्षावास	स्थान
१	इसिपतन (सारनाथ)	१२	वेरजा (कन्नौज मथुरा के बीच)
२-४	राजगृह		
५	वैशाली	१३	चालियपर्वत (बिहार)
६	मकुलपर्वत (बिहार)	१४	श्रावस्ती (गोंडा)
७	त्रयस्त्रिश (?)	१५	कपिलवस्तु
८	सुंसुमारगिरि (=चुनार)	१६	आलवी
९	कौशाम्बी (इलाहाबाद)	१७	राजगृह
१०	पारिलेयक (मिर्ज़ापुर)	१८-१९	चालियपर्वत
११	नाला (बिहार)	२० २१-४५	श्रावस्ती (बुद्धचर्या पृष्ठ ७५ टि.)

सातवा वर्षावास त्रयस्त्रिंश में हुआ जो कि धरती की जगह न होकर देवताओं की जगह है। त्रयस्त्रिंश और उससे पहले की घटना यों है—

"राजगृह के एक सेठ ने चन्दन का एक पात्र ऊँचे बाँस पर बधवाकर विज्ञापन दिया कि जो श्रमण ब्राह्मण ऋद्धिमान हों वे अपनी ऋद्धिबल से इसे उतार ले। बुद्ध शिष्यों में से पिण्डोल भरद्वाज ने आकाश मे उड़कर पात्र उतारा। और सेठ की प्रार्थना पर आकाशमार्ग से उसके घर पर उतरे। उसने पात्र भरकर उत्तम भोजन दिया। बुद्ध ने इस बात को सुनकर पात्र को चूरचूर करवा दिया और नियम बना दिया कि कोई ऋद्धि-चमत्कार न दिखाए। दूसरे सम्प्रदायवालों ने यह जान कि अब बुद्ध और उनके शिष्य चमत्कार न दिखाने के नियम मे बँध गए हैं चमत्कार दिखाने की प्रतियोगिता के लिये आह्वान करने लगे। राजा बिंबिसार ने बुद्ध से यह बात कही कि तैर्थिक चमत्कार दिखाने के लिये आपको ललकार रहे हैं पर आपने नियम बना दिया। अब आप क्या करेंगे। बुद्ध ने कहा कि नियम शिष्यों के लिये बना है, मेरे लिये नहीं। चार महीने बाद श्रावस्ती में मैं ऋद्धि प्रातिहार्य (ऋद्धि द्वारा चमत्कार प्रदर्शन) करूंगा। बुद्ध चारिका करते श्रावस्ती पहुँच। तैर्थिक लोग भी उनके पीछे पीछे गए और मण्डप बनवा चमत्कार दिखाने की प्रतियोगिता मे भाग लेने के निमित्त बैठे। श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित् ने बुद्ध के लिये भी मण्डप बनाना चाहा पर उन्होंने इनकार कर दिया और कहा कि मेरा मण्डप इन्द्र बनाएगा। राजा ने पूछा कि आप कहा प्रातिहार्य करेंगे। बुद्ध ने कहा गण्डम्ब वृक्ष (गण्ड के अम्ब 'आम' वृक्ष) के नीचे। बुद्ध अम्बवृक्ष के नीचे प्रातिहार्य करेंगे यह बात जान तैर्थिकों ने योजन के बीच आमों का ही सफाया करा दिया। आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन बुद्ध नगर में गए। गण्ड नाम राजसेवक ने उन्हे एक पका आम, जो वह राजा के लिये ले जाना चाहता था, बुद्ध को दिया। उसका रस बनाकर बुद्ध ने उसकी गुठली गण्ड को दी और कहा इसको यहीं कहीं तोप दे। बुद्ध ने उस ज़मीन में तोपी गुठली पर हाथ धोए जिससे गुठली अकुरित होकर वृक्ष बन गई। वृक्ष पके फलों से लद गया। इन्द्र ने बुद्ध के लिये आकाश मे रत्नचक्रमण बनवाया और वातवलाहक (=मरुत) को भेज तैर्थिकों के मण्डप उखड़वा डाले तथा सूर्य को आज्ञा दी कि सूर्यमण्डल को थामकर तपाओ। फिर मरुतों से आँधी चलवाकर उनकी पूरी गत बना दी। बुद्धने रत्नचक्रमण पर पहुँचकर अपना यमकप्रतिहार्य दिखाया। उनके शरीर के ऊपरीभाग से तेज की किरणें निकलती थीं, नीचे भाग से जल की धाराएं। चमत्कार दिखा एक पैर युगन्धर पर्वत पर रख दूसरा सुमेरु पर रख त्रयस्त्रिंश पहुँच गए जहा उनकी माता भी उस लोक में उत्पन्न मौजूद थीं। इन्द्र आदि देवताओं से घिरी सभा में माता को अभिधर्म पिटक का उपदेश दिया। प्रतिदिन दो पहर को बुद्ध स्नान के लिये मानसरोवर आते और

उत्तरकुरु से भिक्षा ग्रहण करते। शारिपुत्र उस समय उनकी सेवा में पहुँचते और बुद्ध उनको देवलोक में जितना अभिधर्म का उपदेश दे चुके होते वह शारिपुत्र को बताते तथा शारिपुत्र बुद्ध की आज्ञानुसार उसे पाँच सौ भिक्षुओं को पढ़ाते। इस समय के बीच त्रयस्त्रिंश में भी उपदेश चलता रहता। वहाँ बुद्ध की ऋद्धि बल से निर्मित दूसरे बुद्ध का प्रवचन चलता रहता। इस तरह तीन मास में माता को अभिधर्मपिटक का उपदेश दे आश्विन पूर्णिमा के दिन इन्द्र के द्वारा बनाए सोपान के सहारे सांकाश्य में उतरे। यमकप्रातिहार्य, देवलोक में वर्षावास, और सांकाश्यावतरण सभी बुद्धों के लिये अत्याज्य है। (बुद्धचर्या पृष्ठ ८३-९७)

मेरा अपना ख्याल है कि यह घटना सबसे पहली और महत्त्वपूर्ण चमत्कार घटना पालि-अट्ठकथा के बीच है जो यह बतलाती है कि कोई बुद्ध क्यों न हो यह तीन घटनाएं उसके साथ ज़रूर रहेंगी। महायान सूत्रों में तो इस ढंग की और भी घटनाएं दिखाई पड़ेंगी जिन्हें वे सब बुद्धों के लिये एकसी ज़रूरी समझते हैं। बुद्ध भले और और होते रहें पर घटनाएं नहीं बदलेंगी, यह ठीक उसी तरह है जैसे पौराणिकों में विश्वास है कि अवतार तो युग युग में अनेक होते हैं पर उनकी घटनाएं नहीं बदलतीं। अनेकों रामावतार हो चुके हैं और अनेको बार वे रावण को मार चुके हैं। अनेकों कृष्णावतार हो चुके हैं जो अनेकों बार कंस का संहार कर चुके हैं। बुद्ध के सम्बन्ध में अट्ठकथा ने ठीक इसी तरह की बात कही है। अनेकों बुद्ध जो हो चुके, या होंगे वे ऊपर कही तीनों बातें करते ही हैं।

महायान सूत्रों में सद्धर्मपुण्डरीक के निदान-परिवर्त में एक चमत्कार के बारे में यही बात कही गई है। चमत्कार की संक्षिप्त कथा यों है—

"भगवान् राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर अर्हतों और बोधिसत्त्वों तथा देवताओं के साथ विहार कर रहे थे। परिषद् के बीच ही बुद्ध समाधिस्थ हो गए। उनके भौंहों के बीच के ऊर्णाकोश से एक किरण निकली जिससे पृथिवी के नीचे नरक से लेकर सबसे ऊपर भवाग्र तक दिखाई पड़ने लगे जिन के बीच अनेकों बुद्धक्षेत्रों में अनेकों बुद्ध उपदेश देते दृष्टिगोचर होते थे। जो कुछ वे बोलते थे सब सुन पड़ता था। उन बुद्ध क्षेत्रों में परिनिर्वाण को प्राप्त सब बुद्ध दिखाई पड़ते थे तथा उन बुद्धों के रत्नमय स्तूप भी दृष्टि गोचर होते थे।............

यह देख मैत्रेय बोधिसत्त्व ने कुमार मञ्जुश्री से पूछा कि इस प्रातिहार्य का कारण क्या है ? मञ्जुश्री ने कहा मुझे अतीत कल्पों की बात याद है जब चन्द्रसूर्यप्रभ नामक तथागत हुए थे···उनसे भी पहले चन्द्रसूर्यप्रदीप नामक तथागत हुए थे...तथा चन्द्रसूर्यप्रदीप नाम के ही बीस हज़ार तथागत हुए......उनमें सबसे पीछे चन्द्रसूर्यप्रदीप तथागत की भौंहों के बीच के ऊर्णाकोश से इसी तरह किरण निकली थी और इसी तरह सब बुद्ध क्षेत्र दिखाई पड़ने लगे

थे। और उस प्रातिहार्य के बाद उन्होंने सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र का उपदेश दिया था। उसी तरह की किरण को निकला देख कर मुझे जान पड़ता है कि आज भी भगवान् सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र का उपदेश करेंगे।" यह सार मात्र है विशेष के लिये मूल देखना चाहिए।

बहुत ही साफ़ है कि दो बुद्धों के बीच एक सी घटना का प्रतिपादन करने तथा समय के भेद एक ही घटना की आवृत्ति बतलाने के लिये ही यह सब श्रम है।

संसार में कुछ बातें और कुछ हो घटनाएं बार बार चक्कर लगाती रहती हैं। संसार में नया कुछ नहीं होता। जो हो रहा है वह भी एक अतीत में हो चुका है। बस इसी प्रकार के अन्ध विश्वास का फैलाना ही इस श्रम का प्रयोजन है। पुराने युग की जनता के लिये इस अन्ध विश्वास का व्यवहारिक मूल्य था। किसी भी नूतन विचार को ग्रहण करने में रुढ़िपरायण जनता बहुत आगा-पीछा करती है। उसमें इस बात को फैलाना कि जो भी नई बात हो रही है वह पुरानी की आवृत्ति है, उसके लिये बड़ा सहारा है; जिससे उसे नये विचार ग्रहण करने में सहायता मिलती है। पर इतनी बात के लिये इतने घातक अन्धविश्वास को फैलाकर प्राचीन ब्राह्मणों और श्रमणों ने उपकार की जगह अपकार ही अधिक किया है। संसार के भविष्य को कुछ नियमित बातों में बांध देना कि भविष्य में जो कुछ होगा पहले भी हो चुका है, एक प्रकार से जन समूह के मन और शरीर को बहुत कुछ निकम्मा बना देता है। अवतार वाद के सिद्धान्त ने यही किया है। युग युग में विष्णु का अवतार जनता के सुख के लिये होगा, इस विश्वास में फँसे लोगों के ख्याल से जब तक अवतार नहीं होता तब तक जगत् का सुधार सम्भव ही नहीं। बौद्धों का भी यही ख्याल है कि जब आगामी बुद्ध होंगे दुनिया सुधर जाएगी। और वे मैत्रेय बुद्ध के आने की उसी तरह राह देख रहे हैं जैसे पुराणों के विश्वासी कल्कि के अवतार की।

बुद्ध के जीवन के साथ चमत्कारों ने जुड़कर जो बात उत्पन्न की ठीक वही बात उनके पूर्वजन्म की कथाओं ने की है। बुद्ध के जीवन में जो कुछ हुआ उसी से मिलती जुलती बात, मिलती जुलती क्यों, लगभग वही बात उनके पूर्वजन्म में हो चुकी है, बस इतना ही इन जन्म कथाओं का सार है। जातकट्ठकथा में, महावस्तु में, अवदानों में जहां भी निगाह डालिए बस यही बात मिलेगी। चमत्कार पूर्ण बातों को गढ़ लेना, विचित्र कथाओं की सृष्टि कर लेना किसी युग का बुद्धि वाद था और उसकी बहुत क़द्र थी। महावस्तु में कहा है 'बुद्ध के शासन में विचित्र···कथाओं का कहने वाला...भिक्षु उसी तरह शोभा देता है जैसे आकाश मण्डल में पूरा चन्द्रमा।' (महावस्तु भाग २, पृ० ११५)। फिर भला लोग इस तरह की बातें न गढ़ते तो करते क्या?

(३) बुद्ध का मायामय आविर्भाव और तिरोभाव

चमत्कारों और जन्म कथाओं ने इतना ही विश्वास दृढ़ किया कि समय समय पर बुद्ध होते रहते हैं और उनके जीवन की बातें एक समान होती हैं। कुछ घटनाएं सब बुद्धों के जीवन में ठीक एक जैसी होती हैं। हर एक बुद्ध की वर्तमान जीवन घटनाएँ पूर्व जन्म से मिलती जुलती है। पर इन चमत्कारों और जन्म कथाओं में कहीं भी इस विश्वास का पता नहीं मिलता कि बुद्ध के जन्म आदि कथा भी वास्तविक नहीं है।

सद्धर्मपुण्डरीक में कदाचित् पहले पहल बुद्ध के आविर्भाव और तिरोभाव को सर्वथा मायामय बताकर उन्हें जन्मादि से अतीत बता कर ठीक उस स्थान पर बिठाया गया है जिस स्थान पर अवतारी सर्वथा अवतार दशा की जन्मादि अवस्थाओं से अतीत होकर "निर्गुण" बन कर विराजमान होता है। बुद्ध के इस अद्भुत रूप पर पहले पहले उन लोगों को विश्वास नहीं हुआ होगा जो उनमें बहुत कुछ लोकोत्तरता मानते हुए भी मनुष्य रूप में देखते थे। उन लोगों के उस अविश्वास की बात को भी बड़े ढंग से लिख कर सद्धर्मपुण्डरीक यह सोचने में सहायता करता है कि बुद्ध का पूर्व रूप कैसा था और पर रूप किस तरह का हुआ। यहाँ पर उसके पन्द्रहवें प्रकरण "तथागतायुष्प्रमाणपरिवर्त" को संक्षेप से देख लेना ठीक रहेगा क्योंकि इसमें तथागत के स्वरूप सम्बन्धी सभी बातें ढंग से आ जाती हैं। थोड़े शब्दों में उस प्रकरण की कहानी यों है—

"भगवान् ने बोधिसत्त्वों को सम्बोधित किया। कुलपुत्रों, तथागत द्वारा कही गई सची बात पर श्रद्धा करो। दूसरी बार भी भगवान् ने यही बात कही, तीसरी बार भी यही बात कही। तब बोधिसत्त्वों ने मैत्रेय बोधिसत्त्व को आगेकर कहा कि भगवान् कहें, हम भगवान् की बात पर श्रद्धा करेंगे। दूसरी बार भी बोधिसत्त्वों ने यही बात कही और तीसरी बार भी यही बात कही।

"तब भगवान् ने कहा। लोग यह जानते हैं कि शाक्यकुल से अभिनिष्क्रमण कर गया में बोधि वृक्ष के नीचे शाक्यमुनि तथागत को सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हुई है।

"पर ऐसा नहीं समझना चाहिए। प्रत्युत यह समझना चाहिए कि सम्यक्सम्बोधि प्राप्त किए मुझे करोड़ों कल्प, 'कल्पकोटिनयुतशत सहस्राणि' हो चुके हैं। मैं इस लोक में तथा दूसरे करोड़ों लोकों में 'लोकधातुकोटिनयुतशतसहस्रेषु' जब से धर्मोपदेश कर रहा हूँ तबसे इस बीच दीपंकर प्रभृति जितने तथागत हुए उनका परिनिर्वाण धर्मोपदेश के लिये उपाय कौशल्य भर था। क्योंकि—'अपरिमितायुष्प्रमाणं तथागतः सदा स्थितः। अपरिनिर्वृतस्तथागतः परिनिर्वाण-मादर्शयति वैनेयवशेन। (सद्धर्मपुण्डरीक पृष्ठ ३१८-३१९")तथागत सदा स्थित हैं उनकी आयु

का प्रमाण अपरिमित है। जिन लोगों को वे शिक्षा देना चाहते हैं उन्हीं के कारण वे अपना परिनिर्वाण दिखाते हैं यद्यपि परिनिवृत नहीं होते।

"कुलपुत्रो! मानलो, किसी वैद्य के बहुत लड़के हैं। वैद्य प्रवास में हैं। इस बीच उसके लड़के कोई विषैली चीज़ खाकर बीमार हो जाते हैं। वैद्य आकर उन्हें भैषज्य देता है। उन लड़कों में जिनका होश-हवास दुरुस्त है वे तो भैषज्य पीकर ठीक हो जाते हैं। पर जो बहुत कुछ पगले हैं वे नहीं पीते, समझाए जाने पर भी अपने पिता वैद्य की बात नहीं मानते। उनके लिये उनका पिता उपाय से काम लेता है। किसी दूसरे देश जाकर वहां से खबर भिजवा देता है कि उसका देहान्त हो गया। इस खबर से उन्हें शोक होता है और उनका कुछ होश-हवास दुरुस्त हो जाता है तब वे भी वह भैषज्य पीकर ठीक हो जाते हैं। उनके ठीक हो जाने पर वह वैद्य फिर घर आ जाता है। इस तरह अपने लड़कों के लिये उपाय करते हुए क्या उस वैद्य पर झूठ बोलने का इलज़ाम लगाया जा सकता है?" "नहीं भगवन्, नहीं लगाया जा सकता। इसी तरह मैं भी बीच बीच में प्राणियों को शिक्षा देने के लिये उपाय बरतता हूँ। और मुझपर इसके कारण झूठ बोलने का दोष नहीं लगता।"

"प्राणियों को शिक्षा देने के लिये यह मेरा उपाय है जो मैं अपना निर्वाण दिखाता हूँ पर निर्वृत नहीं होता, यहीं धर्मप्रकाशन करता रहता हूँ। यह मैं ठीक कह रहा हूँ, मेरी बात झूठी नहीं होती। इस विषय में सन्देह मत करो, दुविधा छोड़ दो—

निर्वाणभूमिं चुपदर्शयामि विनयार्थसत्त्वान वदाम्युपायम्।
न चापि निर्वाम्यहु तस्मि काले इहैव चो धमु प्रकाशयामि॥
मा संशयं अत्र कुरुध्व पण्डिता विचिकित्सितं च जहथा अशेषम्।
भूतां प्रभाषाम्यहमेतवाचं मृषा मम नैव कदाचि वाग्भवेत्॥"

—"सद्धर्मपुण्डरीक १५ गाथा ३, १९"

इससे बहुत साफ़ हो जाता है कि प्राथमिक और प्राचीन बुद्ध स्वरूप लोकोत्तर कल्पनाओं से जकड़ा न था। उन्हें शाक्यवंश में उत्पन्न महापुरुष के रूप में समझा जाता था ज्यों ज्यों समय बीता उनके ऐतिहासिक रूप पर परदा पड़ता गया तथा वे धीरे धीरे अपने अनुयायियों की कल्पना की प्रतीक बन गए। मेरा ख़्याल है कि उनके अनुयायियों की उनके प्रति जो अत्यधिक श्रद्धा थी, उस श्रद्धा के कारण ही उनका ऐतिहासिक रूप मिटा डाला गया। बुद्ध अपने जीवन में अपने भक्तों के लिये आधार थे। उनके परिनिर्वाण के बाद उनका धर्म और विनय उनका आधार बना। उनकी धातुएँ (=अस्थियाँ) पूजा की वस्तु बनीं। धर्मचक्र और बोधिवृक्ष को प्रतीक मानकर लोग उन्हें श्रद्धांजलि देने लगे। बाद में उतने से तृप्ति न होकर

उनकी प्रतिमाएं बनाई गईं। पर यह सब चीज़ें बाहरी थीं। लोगों की भक्ति के स्थूल रूप ही धातुओं के स्तूप, धर्मचक्र और बोधिवृक्ष के प्रतीक थे। केवल इतने भर से भक्त को सन्तुष्ट होना कठिन है। जिसके प्रति उसकी भक्ति है, जिसके प्रति उसने अपना जीवन समर्पित कर दिया है वह संसार में नहीं है, उसका परिनिर्वाण गया है, इस बात को सहन करना भक्त की मनोवृत्ति के लिये अत्यन्त असम्भव है। क्योंकि जिसके प्रति उसकी भक्ति है, वह उसके मनमें तो सब तरह से जीवित है फिर वह केवल इसलिये कि वह उसे मांसचक्षुओं से नहीं देखता, उसका अभाव कैसे मान सकता है? पर दुनिया जिसका अभाव मानचुकी है उसके सामने उस अभाव का खण्डन करना कुछ टेढ़ी बात है। भक्त को इस बात की परवाह भी नहीं कि लोगों को अपनी बात मनवाए ही पर यदि उसे अपनी बात कहनी हो तो उसे इस तरह से ज़रूर कहना होगा कि लोगों के दिलमें घर कर सके। और उसीका यह यत्न है कि बुद्ध को सदास्थित मानकर उनके आविर्भाव और तिरोभाव का उनका उपाय कौशल्य कह दिया गया। भक्त के लिये बुद्ध एक आदर्श हैं। जितने बुद्ध हो चुके हैं उनमें उसे कोई भेद नहीं जान पड़ता क्योंकि उसे उनके भौतिक रूप उनके वंश, उनकी जाति एवं वर्ण, देश एवं भाषा से मतलब नहीं है। और यदि उसे कुछ मतलब भी है तो वह उन्हें एक रूप में देखना चाहता है। लङ्कावतारसूत्र में परिवर्त ३ पृष्ठ १४१-१४३ इस बारे में चर्चा है—

"बोधिसत्त्व ने भगवान् से पूछा कि भगवान् ने क्या ख़्यालकर कहा कि जो बुद्ध हो चुके, वह मैं ही हूँ? भगवान ने कहा चार तरह की समता ख़्यालकर तथागत बात बोलते हैं। अक्षरसमता, वाक्यसमता, धर्मसमता, कायसमता। जिन अक्षरों से मेरा नाम बुद्ध है उन्हीं अक्षरों से उनका नाम भी बुद्ध था। यही अक्षर-समता है। जिस प्रकार का मेरा...... ब्रह्मस्वर है ठीक वैसा ही उनका भी था। यही वाक्य-समता है। मेरा और उन तथागतों के धर्मकाय तथा रूप-लक्षण (=बुद्ध के शरीर पर होनेवाले बत्तीस चिह्न) अनुव्यञ्जन (=बुद्ध के शरीर पर होनेवाले अस्सी चिह्न)-काय समान हैं। यह काय-समता है। मैंने और उन तथागतों ने सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों का साक्षात्कार किया। यह धर्म-समता है। इस चार तरह की समता का ख़्याल रख तथागत बात बोलते हैं। समता के कारण मैंने जिनपुत्रों (=बोधिसत्त्वों) से कहा है कि मैं ही काश्यप, क्रकुच्छन्द, कोनाकमुनि हूँ—

काश्यपः क्रकुच्छन्दश्च कोनाकमुनिरप्यहम्।
भाषामि जिनपुत्राणां समतायां समुद्गतः॥"

बुद्ध को एक आदर्श के रूप में उपस्थित करने तथा अनेक बुद्धों की कल्पना से उत्पन्न प्रथक्ता को एक करने का ही यह सब प्रयत्न है।

इस प्रकार के बुद्ध का धरती पर ढूढना ठीक न होगा। इस तरह के बुद्ध का दर्शन उन भक्तों के हृदय में, उन भक्तों के मनमे पैठने से ही हो सकता है जिनका हृदय और मन तदाकार हो गया है। इस प्रकार के बुद्ध का स्वरूप ही चित्तमय है मनोमय है। चित्त से अलग उसे ढढा जाने पर कह देना पड़ेगा कि वह है ही नही, पर इसका सीधा अर्थ है कि भक्तजन के मन को—चित की सत्ता से इनकार कर देना। यदि भक्त में चित्त न रहा, मन न रहा तो वह घुने ठूठ के समान है जो कुछ भी काम नहीं दे सकता, जला भले दिया जाए। पर जिन्होंने पूरे तौर पर बिना अपने किसी स्वार्थ के अपना सब कुछसर्वात्मना उच्च आदर्श के पीछे उत्सर्ग कर दिया है, उनकी इस उत्सर्गभावना के पीछे कुछ भी मानसिक भाव नहीं यह कौन मानेगा? भक्त में जो सबसे प्रधान बात है वह है उसका चित। उस चित्त में ही बुद्ध को ढूढना पड़ेगा। लकावतारसूत्र मे कहा है—

मनोविज्ञानव्यावृत्त चित्तं कालुष्यवर्जितम्।
सर्वधर्मविबोधेन चित्त बुद्ध वदाम्यहम्॥ सगाथक २३९

सर्व धर्म के अवबोध से मनोविज्ञान जिसका व्यावृत हो चुका है अर्थात् बहिर्मुखी प्रवृत्ति रुक गई है, जिसमें मलिनता नहीं रही है, उस चित्त को मै बुद्ध कहता हूँ।

इस प्रकार के बुद्ध का मानसिक अस्तित्व सिद्ध है। ऐतिहासिकों के लिये भले न हो पर भक्तों के लिये वह है। भक्त को भौतिक इतिहास से विरोध नहीं, और भौतिक इतिहास की लोहभित्तियों से उसे कोई मतलब नहीं। पर जहा तक मन के इतिहास से सम्बन्ध है इस तरह के बुद्ध को आज भी निर्मल हृदयों में बैठा देखा जा सकता है। यह वे बुद्ध नहीं जिनकी दुर्गति करने के लिये पौराणिकों ने कह दिया कि वे असुरों के छलिया थे। यह वे बुद्ध नहीं जो चुन्द के सूकरमद्दव से पीड़ित हो गए थे। यह वे बुद्ध नहीं जिन्हें चिचा ने बदनाम करने की कोशिश की थी। यह वे बुद्ध हैं जो निर्मलता की प्रतीक हैं। छल कपट और सब दोषों से परे हैं। लोक के लिये आदर्श होते हुए भी लोक से परे हैं। सदास्थित हैं। उनके दर्शन और अदर्शन आविर्भाव और तिरोभाव की समस्या ऐतिहासिकों के लिये दुर्बोध है। भक्तों के लिये वह मायामय है।

इसी प्रकार के बुद्धत्व तक साधक अपने आपको पहुचाना चाहता है।

ख—बुद्ध के तीन यान

जिस बुद्धत्व को प्राप्त करने के लिये साधक प्रयत्न करता है, उसके बारे में साधक का अपना ख्याल किस तरह का है? वह उसे कैसा सोचता और समझता है? यह जान लेना बहुत जरूरी है। निश्चय ही वह जिस तरह का बुद्ध होना चाहता है उसका चित्र इन चर्मचक्षुओं से नहीं उतारा जा सकता और न उसे इन चर्मश्रोत्रों से सुनाही जा सकता है। वज्रच्छेदिका में कहा है जिन लोगों ने मुझे रूप के द्वारा देखा, घोष (=ध्वनि) के द्वारा मेरे अनुगामी हुए वे बेकार की मेहनत करते रह गए। उन्होंने मुझे देखा ही नहीं—

ये मा रूपेण चाद्राक्षुर्ये मा घोषेण चान्वगु।
मिथ्याप्रहाण प्रसृता न मा पश्यन्ति ते जना ॥ वज्रच्छेदिका

अष्टसाहस्रिका में कहा है कि 'धर्मकायास्तथागता' तथागत का काय धर्मकाय है उन्हे रूपकाय के द्वारा नहीं देखना चाहिए। (अष्टसाहस्रिका पृष्ठ ५१३)। धर्मकाय की परिनिष्पत्ति के द्वारा तथागत को देखना होगा। तथागत का यह काय भूतकोटि से प्रभावित जानना चाहिए और वह है प्रज्ञापारमिता। (पृष्ठ ९४)। प्रज्ञापारमिता असंग-लक्षणा (पृष्ठ ३९९) है। सग या राग का सर्वथा अभाव ही असगता है। वीतरागता की पराकाष्ठा ही बुद्ध का धर्मकाय है।

इस असगता या वीतरागता मे मन या चित्त की स्थिति किस प्रकार की होती होगी? यह जानना साधक का काम है। उसे शब्दों से प्रकट करने मे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। साधारण लोगों के लिए बाहरी दुनिया और भीतरी (मनकी) दुनिया दोनों ही सच हैं। पर योगाभ्यासी साधक के लिये बाहरी दुनिया नहीं है, और यदि है भी तो वह चित्र की कल्पना से अधिक और कुछ नहीं है। उसके लिये उसका चित्त ही मुख्य है। वह चित्त भी यदि दुनिया भर की कल्पनाओं से घिरा है,—वे कल्पनायें चाहे आत्मा से सम्बन्ध रखती हों या परमात्मा से, उनका सम्बन्ध प्रकृति से हो या पुरुष से, जड़ से हो या चेतन से हो—तो वह साधारण लोगों का चित्त है। साधक का चित्त बहुत कुछ इससे ऊपर उठा होता है। उन सब कल्पनाओं से मुक्त होता है जिनमे साधारण लोगों का चित्त फँसा रहता है। उस चित्त के लिये बाहरी दुनिया होती ही नहीं। बाहरी दुनिया से विविक्त चित्त का वर्णन करते असग ने कहा है—

अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञान लोकोत्तर च तत्।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठुल्यहानित.॥

स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः ।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽय महामुनेः ॥ त्रिशिका २९, ३०

वह चित्त 'अचित्त' कहलाता है क्योंकि वह ग्राहक नहीं है—किसी चीज़ को ग्रहण नहीं करता। ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य बाह्य जगत् उसके लिये नहीं है इसलिये वह 'अनुपलम्भ' है। लोक मे इस तरह के चित्त का व्यवहार न होने से वह 'लोकोत्तर ज्ञान' है। दो प्रकार के दौष्ठुल्य अर्थात् आवरण (क्लेशावरण और ज्ञेयावरण) के नष्ट हो जाने से आश्रय या अधारभूत चित्त (=आलयविज्ञान) परावृत्त होता है, प्रवृत्त नहीं होता। चित्त की निवृत्ति-परायणता का नाम ही आश्रयपरावृत्ति है। इसीको 'अनास्रवधातु' कहते हैं क्योंकि उस पर आवरण नहीं होता। वह अचिन्त्य है क्योंकि उसे तर्क से नहीं जाना जा सकता। वह कुशल है। वह ध्रुव है और सुख रूप है। जो अनित्य होता है उसे बौद्ध दर्शन में दुःख कहा जाता है। जो दुःखाभाव रूप है वही ध्रुव है वही सुख रूप है। दुःख का न होना ही ध्रुवता-नित्यता-अक्षयता एव सुख-रूपता है। वही विमुक्तिकाय है। वही धर्माख्य अर्थात् धर्मनामवाला महामुनि बुद्ध का 'धर्मकाय' है। असगता, आश्रयपरावृत्ति, या चित्त की निवृत्तिपरायणता का नाम ही धर्मकाय है।

धर्मकाय की यह व्याख्या बहुत कुछ अभाव-परक है। जो चित्त बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से लौट चुका है वह है क्या ? बतलाना बहुत कठिन है। चित्त की प्रवृत्तावस्था ही बतलाई जा सकती है, जिसके बारे मे लकावतारसूत्र मे कहा है पुद्गल (=जीव), सतति (=परिवर्तन का प्रवाह), स्कन्ध, प्रत्यय, अणु, प्रधान (=प्रकृति) ईश्वर, कर्ता सभी चित्तमात्र के विकल्प हैं—

पुद्गल सन्तति स्कन्धा प्रत्यया अणवस्तथा ।
प्रधानमीश्वरः कर्ता चित्तमात्र विकल्प्यते ॥ लकावतार पृष्ठ ७९

इन सब विकल्पों से निवृत्त चित्त का स्वरूप अभावात्मक जान पड़ता है पर अभावात्मक है नहीं। भले ही अभावात्मक न हो पर उसे भावात्मक कहना भी सम्भव नहीं जान पड़ता। केवल उसे निषेधात्मक विशेषणों द्वारा ही बहुत कुछ बताया जा सकता है। असग का ख्याल है कि बुद्ध ने जिन चीज़ों को अव्याकृत या अव्याख्यात रक्खा है उनमे एक यह बात भी है कि 'मरने के बाद तथागत होते हैं या नहीं ?' इस बात का बुद्धने जो उत्तर नहीं दिया वह सिर्फ इसलिये कि आश्रय-परावृत्तिरूप जो बुद्ध का वास्तविक स्वरूप है उसे भाव या अभाव रूप में बतलाना सम्भव नहीं—

न भावो नापि चाभावो बुद्धत्व तेन कथ्यते ।
तस्माद्बुद्धतथाप्रश्ने अव्याकृतनयो मत. ॥ महायान सूत्रल कार ९।२४

बुद्ध के धर्मकाय के भावात्मक स्वरूप का अन्दाज़ा लगाने के लिये यह जानना बहुत ज़रूरी है कि बुद्ध मे ज्ञानरूपता किस तरह मानी गई है। बुद्ध के ज्ञान को चार भागों में विभाजित किया गया है—आदर्शज्ञान, समताज्ञान, प्रत्यवेक्षाज्ञान, और कृत्यनुष्ठानज्ञान। आदर्श ज्ञान को अनेकों विशेषणों द्वारा बताया गया है। वह 'अमम' है—ममता या ममकार का भाव उसमें नहीं है। वह 'अपरिच्छिन्न' है—उसकी सीमा नहीं है, किसी खास देश, खास जगह से वह बँधा नहीं है। वह 'सदानुग' है—ऐसा नहीं कि किसी भी समय उसकी परम्परा टूट जाती हो। ज्ञेय के विषय मे वह 'असमूढ़' होता है—उसे सभी जानने योग्य पदार्थों की ठीक जानकारी रहती है। ऐसा होते हुए भी वह उन ज्ञेयों के प्रति 'आमुख' नहीं होता—उनके प्रति उसमें उत्सुकता नहीं होती। सब ज्ञानों का वह महान् आकर जैसा होता है क्योंकि वही सब ज्ञानों का निमित्त है। इसी ज्ञान से सभोगबुद्धता और उसके ज्ञान का प्रतिबिम्ब उदय होता है। प्रतिबिम्ब के उद्भावक होने के कारण उसे "आदर्श (=दर्पण)" कहते हैं। (महायान सूत्रालंकार ९ ६८, ६९)। सभोगबुद्धता से अभिप्राय बुद्ध के उस रूप से है जिससे वे ससार मे रहते हैं और जिसका लोग दर्शन करते हैं।

इसी आदर्श ज्ञान के सहारे तीन और ज्ञान टिके रहते हैं। प्राणियों के प्रति समत्व बुद्धि का होना—सब को समान समझना ही समता ज्ञान है जो भावनाशुद्धि के कारण निर्मल और अप्रतिष्ठ समाविष्ट अर्थात् निर्वाणानुप्रविष्ट होता है। सर्वदा मैत्री और करुणा से अनुगत होता है। प्राणी अपने अधिमोक्ष (=श्रद्धा और विश्वास) के अनुसार बुद्ध को जिस रूप में देखना चाहते है इस ज्ञान से बुद्ध का उन्हे वैसा ही दर्शन होता है। इसका ही नाम समता ज्ञान है। (महायान सूत्रालकार ९ ७०-७१)।

परिषत् के बीच जिससे सब प्रकार की विभूतियों का दर्शन होता है, सब प्रकार के सन्देह छिन्न हो जाते है, तथा जिससे महान् धर्म की वर्षा होती है उसका नाम प्रत्यवेक्षाज्ञान है। (महायान सूत्रालकार ९ ७३)।

उस ज्ञान को कृत्यनुष्ठान ज्ञान कहते हैं, जिसके द्वारा सब धातुओं में—सब लोकों में अद्भुत और अप्रमेय एव अचिन्त्य शरीरों का निर्माण कर सब प्राणियो का हितसाधन किया जाता है। (महायान सूत्रालकार ९ ७४)।

इन चारों ज्ञानों मे आदर्श ज्ञान का जो वर्णन है उससे धर्मकाय का बहुत कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। इस अन्दाज़ा लगाने में कितनी भूलें भी सम्भव हैं क्योंकि सरसरी तौर पर देखने से वह बहुत कुछ "ब्रह्म" जैसी रहस्यमय वस्तु बन जाता है। पर दोनों में भेद बहुत है। ब्रह्म एक स्वय सिद्ध सत्ता है, वह स्वय किसीसे उत्पन्न नहीं है प्रत्युत सभी जड़-

चेतन जगत् का वह उत्पादक है। कोरा उत्पादक ही नहीं सब की स्थिति का कारण और लय का आधार है। पर धर्मकाय कोई स्वयसिद्ध सत्ता नहीं है प्रत्युत चित्त को सर्वोच्च एव परिपूर्ण विकासावस्था है। अष्टसाहस्त्रिका मे कहा है कि 'जैसे वीणा से शब्द . . . .तन्त्री और पुरुष के व्यायाम से उत्पन्न होता है, वैसे ही बुद्धों को काय निष्पत्ति हेतु के अधीन होती है, प्रत्यय के अधीन होती है। अनेक कुशलमूलों के प्रयोग से परिनिष्पन्न होती है . बहुत हेतु और प्रत्यय को सामग्री होने पर उत्पन्न होती है' (अष्टसाहस्त्रिका ४१४-४१५)। बस, इतने से धर्मकाय को ब्रह्म जैसी रहस्यमय वस्तु समझने से बचाया जा सकता है। वस्तुत बुद्ध के धर्मकाय में कितने ही विशेषणों को समानता के अतिरिक्त ब्रह्म से भेद ही अधिक है। भेद ही नहीं, यदि दोनों के स्वरूप पर ज़रा गहरी निगाह डाले तो परस्पर इतना विरोध जान पड़ेगा कि उन्हें एक कहने की हिम्मत भी नहीं की जा सकती।

ब्रह्म तथा विष्णु, शिव एव शक्ति के उपासक जिस रूप में अपने उपास्य देवताओं को देखते हैं, उस रूप मे बौद्ध साधक बुद्ध को नहीं देखता। सबसे बड़े भेद एव विरोध की बात है कि बुद्ध न तो दुनिया को रचते हैं और न पाल पोस कर उसे धूल मे मिलाते हैं। बुद्ध का सर्ग, स्थिति और लय से कोई सरोकार नहीं। पर ब्रह्म तथा दूसरे देवता सर्ग, स्थिति और लय से पूर्णतया सबद्ध हैं। यह विरोध बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस विरोध के कारण बुद्ध को उस अपण्डितता का इलज़ाम लगाने से बचाया जा सकता है, जिसकी शिकायत करते एक मौजी कविने कहा था 'विधाता का अहमकपना तो देखो! हाय रे! यदि ऐसे पुरुष रत्न को बनाया जो सब तरह से गुणी है, इस धरती का भूषण है, तो भले मानस उसे बना ही रहने देता न! उसे क्षण भगुर क्यों बना डाला?—

सृजति तावदशेषगुणाकर
पुरुषरत्न मलकरण भुव।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेद्
अहह! कष्टमपण्डितता विधे।"

सर्ग, स्थिति, और लय से निर्लिप्त होते हुए बुद्ध का रूप ऊपर जिन चार ज्ञानों की चर्चा आई है उनमें वह बहुत स्पष्ट है। आदर्शज्ञान या पूरी असगता उनका वास्तविक रूप है पर असग होते हुए भी वे प्राणिहित की साधना में लीन रहते हैं वह बात उनके शेष तीन ज्ञानों से स्पष्ट है। इन ज्ञानों मे आदर्शज्ञान बुद्ध के धर्मकाय को समझने मे बहुत मदद देता है। पूरे तौर पर न सही, पर बहुत कुछ धर्मकाय के स्वरूप का अन्दाज़ा लग जाता है। इस धर्मकाय को असग ने स्वाभाविककाय (महायान सूत्रालकार ९. ६०) कहा है।

इसी धर्मकाय को ध्यान मे रखकर बुद्ध को एक कहा गया है उनके अनेकत्व का निषेध किया गया है। अनेकत्व का निषेध कर देने का यह मतलब नहीं है कि उन्हे एक रहस्यमय वस्तु समझ लिया जाए और परम्परागत अनेक बुद्ध होने के सिद्धान्त से छुट्टी ले ली जाए। जिन कारणों से बुद्ध को अनेक कहा जाता है वे ये हैं—

(१) बुद्ध के गोत्र मे अनन्त प्राणी हैं। उनमे एक ही बुद्ध होगा, सो बात नहीं, प्रत्युत सभी जो बुद्धत्व के निमित्त पारमिताओं का अभ्यास करते हैं वे बुद्ध होंगे। इसलिए बुद्ध को एक नहीं कहा जा सकता।

(२) पुण्य बुद्धत्वप्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता है। यदि सभी पुण्य में लगे प्राणी बुद्ध न हो सके तो उनकी पुण्य चर्चा बेकार हो गई। इसलिये बुद्ध को एक नहीं माना जा सकता।

(३) प्राणियों के हित की पूर्णता तभी हो सकती है जब सब को बुद्ध होने का अवसर रहे। यदि किसी एक के बुद्ध होने की बात मान ली जाए तब तो यह सम्भव हो नहीं।

(४) पुण्य करने से कोई भी बुद्ध हो सकता है। जिस प्रकार ब्रह्म आदि को एक मूल या आदि पदार्थ माना जाता है उसी तरह बौद्ध परम्परा मे कोई आदि बुद्ध नहीं माना जाता। इसलिये बुद्ध को एक मानने की बात नहीं उठती (महायान सूत्रालकार ९ ७७)।

धर्मकाय के अतिरिक्त बुद्ध के दो काय और हैं—सभोगकाय और निर्माणकाय। बुद्ध का धर्मकाय सब बुद्धों मे एक समान होता है पर सभोगकाय एक समान नहीं होता। अलग अलग लोकों मे बुद्ध का सम्भोगकाय अलग अलग होता है। बुद्ध जब ऋद्धिबल से अपने जैसे अनेक बुद्धों का निर्माण करते हैं तो उन निर्मित कायों का नाम निर्माण काय है। इनमें सम्भोगकाय बुद्ध के अपने लिये है पर निर्माण काय सर्वथा परार्थ है, परहितार्थ है। विज्ञप्ति-मात्रतासिद्धि मे ज़िक्र है कि सम्भोग काय दो तरह का होता है—स्व-सम्भोग-काय और पर-सम्भोग-काय। स्वसम्भोगकाय का दर्शन सब लोक धातुओं के बुद्धों को ही होता है। परसम्भोग-काय के दर्शन विभिन्न लोक धातुओं के बोधिसत्त्वों को होता है। इन दोनों के रग-रूप तथा स्वर मे भेद नहीं होता। हाँ, एक भेद होता है, वह यह कि परसम्भोग काय में महापुरुष के लक्षण होते हैं। पर स्वसम्भोग काय मे नही। परसम्भोग काय का चित्त वास्तविक नहीं होता पर स्वसम्भोग काय का चित्त वास्तविक होता है। स्वसम्भोग काय के चित्त में आदर्श, समता, प्रत्यवेक्षा, और कृत्यनुष्ठान ज्ञान रहता है पर परसम्भोग काय के चित्त में नहीं।

धर्मकाय जिस तरह बहुत कुछ ब्रह्म से मिलता जुलता जान पड़ता है वैसे ही स्वसम्भोग

काय, परसम्भोग काय तथा निर्माणकाय बहुत कुछ उस सगुण ब्रह्म के समान जान पड़ते हैं जो कि अवतार आदि धारण करता है तथा ससार में अनेक विभूतियों और चमत्कारों से अपने को प्रकट करता है। धर्मकाय और ब्रह्म (= निर्गुण ब्रह्म) मे जो मौलिक भेद रह जाता है वही इन तीनो कायों और सगुण ब्रह्म मे बच रहता है सर्ग-स्थिति-लय करने की अहता इनमें पूरे तौर पर बची रहती है। बुद्ध के इन तीनों कायों को 'सगुणकाय' कहना बहुत ठीक रहेगा, तथा इनकी अपेक्षा धर्मकाय को 'निर्गुणकाय' कहना भी उचित होगा। सगुणकाय और सगुणब्रह्म मे बहुत अन्तर है। बुद्ध का सगुणकाय कुशल एव कल्याण का प्रतीक है। यहा ब्रह्म के सभी सगुण रूपों की चर्चा नहीं हो सकती पर विष्णुरूप की चर्चा कर लेना ठीक रहेगा, क्योंकि विष्णुरूप के साथ बुद्ध को जोड़ने का प्रयत्न पौराणिकों ने किया है।

पौराणिकों का ख्याल है कि बुद्ध विष्णु के अवतार हैं। यद्यपि बौद्ध परम्परा इस बात को नहीं मानती, पर पौराणिकों को इस बात के मानने से रोक नहीं सकती। पौराणिकों का बुद्ध के बारे मे ख्याल है कि—

"पूर्वकाल में किसी समय सौ दिव्य वर्षों तक देवासुर सग्राम होता रहा, उस सग्राम में ह्राद प्रभृति दैत्यों द्वारा देवगण पराजित हुए। देवगण इस लिए क्षीरसागर के उत्तर तट पर जाकर तप करने लगे। उन्होंने विष्णु की आराधना के लिये स्तुति की। स्तुति समाप्त होने पर देवताओं ने परमात्मा हरि को हाथ मे शख, चक्र, गदा लिये तथा गरुड़ पर आरूढ़ अपने सम्मुख देखा। उन्हे देख सब देवताओं ने प्रणामकर कहा : 'नाथ, प्रसन्न हों और हम सब शरणागतों की दैत्यों से रक्षा करे। हमारे शत्रुगण दैत्य वर्णधर्म का पालन करनेवाले, वेदमार्गावलम्बी और तपोनिष्ठ हैं। अतः वे हमसे नहीं मारे जा सकते। अत हे सर्वात्मन्! जिससे हम उन असुरों का बध करने मे समर्थ हों ऐसा कोई उपाय आप हमे बतलाइए।' उनके ऐसा कहने पर भगवान् विष्णु ने अपने शरीर से माया मोह को उत्पन्न किया और उसे देवताओं को देकर कहा. यह मायामोह दैत्यगण को मोहितकर देगा तब वे वेदमार्ग का उल्लघनकर तुम लोगों से मारे जा सकेंगे।'

तदनन्तर जितेन्द्रिय मायामोह ने रक्तवस्त्र धारणकर असुरों के पास जा उनसे मृदुमधुर और अल्प शब्दों में कहा—यदि तुम लोगों को स्वर्ग अथवा मोक्ष की इच्छा है तो पशु-हिंसा आदि दुष्कर्मों का त्यागकर बोध प्राप्त करो। यह सारा जगत विज्ञानमय है, ऐसा जानो। इस विषय में बुद्धजनों का यही मत है कि यह ससार निराधार है, भ्रान्तिज्ञानमात्र भर है, रागादि दोषों से दूषित है। ऐसे युक्तियुक्त नानाप्रकार के वाक्य कहने पर दैत्यगण ने वेद

धर्म का त्यागकर दिया। और बाद मे वे देवताओं से पराजित हो गए।" विष्णुपुराण, ३य अश, अध्याय १७।१८।)

पुराणकर्ता यज्ञ और उसकी हिसा के समर्थन मे उतावला जान पड़ता है। पशुहिसा आदि कर्मों को वह शायद इसलिये धम समझता है कि बिना उनके हिसा-प्रधान यज्ञ होना सम्भव नहीं है। पुराणकर्ता ने ससार की मायामयता और भ्रान्तिमयता को भी बड़े सन्देह की निगाह से देखा है पर बाद मे गौड़पाद और शकर ने इसीको वेदान्त का परम सिद्धान्त स्थापन करने का यत्न किया है। इस कारण प्रच्छन्न बौद्ध कहकर शकर को दुर्दुराया ज़रूर गया है पर बाद मे वही सिद्धान्त अपनाया गया और इस तरह से अपनाया गया कि वह वेदान्त का सारभूत सिद्धान्त होकर अब तक जी रहा है। पुराणकर्ता के अनुसार बुद्ध विष्णु के छली रूप का प्रतीक है।

मेरा अपना ख्याल है कि बुद्ध को बदनाम करने के लिये असुरों के मोहने को कथा गढ़ी गई है पर कथा का इतना अश सच है कि बुद्धमार्ग सर्वथा वेदविरोधी मार्ग है। वैदिक हिसा, तथा दूसरे वैदिक विश्वासों से बौद्धमार्ग भिन्न है। इस भिन्नता के कारण बौद्धधर्म की उपादेयता मे कोई फर्क नहीं पड़ता। वेद की प्रागैतिहासिक प्रथाएं आज केवल इतिहास मे पढ़ने की चीज़ें हैं उनको आचरण के लिये कुछ भी उपयोगिता नहीं रही है। बुद्ध के मार्ग के महत्त्व को इसलिये भुलाया नहीं जा सकता कि वह वेद के अनुकूल नहीं है। पर जिस जनसमाज को यह ख्याल है कि वेद ही उनका सब कुछ है, जो वेद-विपरीत है वह अधर्म है, उसे भड़काने के लिए इतना कहना बहुत है कि बुद्धमार्ग वेदविरोधी मार्ग है। और वह असुरों को छलने के लिये निकाला गया था। जो भी हो, पौराणिकों के हिसाब से बुद्ध विष्णु का छलिया रूप है। विष्णु के दूसरे रूपों को इस छल प्रपञ्च से उसके भक्त भी नहीं बचा सकते, पर जिनकी विष्णु के प्रति भक्ति नहीं उन्हे तो विष्णु मे दोष ही दोष दिखाई पड़ते हैं। शिवभक्तों ने बहुत कुछ विष्णु की कठोर आलोचना की है शिवपुराण मे विष्णु पर किए गए कुछ आक्षेप यों हैं—

"रामावतार में विष्णु ने अपनी निष्पाप पत्नी का त्यागकर स्वार्थ के लिये वेदमार्ग को ध्वस्त किया। कृष्णावतार मे इसने पराई स्त्रियों को दूषित किया, कुलधर्म बिगाड़े और वेदमार्ग छोड़कर अपने विवाह किए। फिर इसी ने (बुद्धावतार मे) वेद-विरोधी नास्तिक मत स्थापित किया।" (शिवपुराण रुद्रसहिता कुमारखड ९)

ब्रह्मपुराण में यों कहा गया है—

"बलि नाम का बड़ा प्रतापी दैत्य राजा था। देवता उसके शत्रु थे फिर भी उसे